काका साहब कालेलकर

रवीन्द्र केलेकर

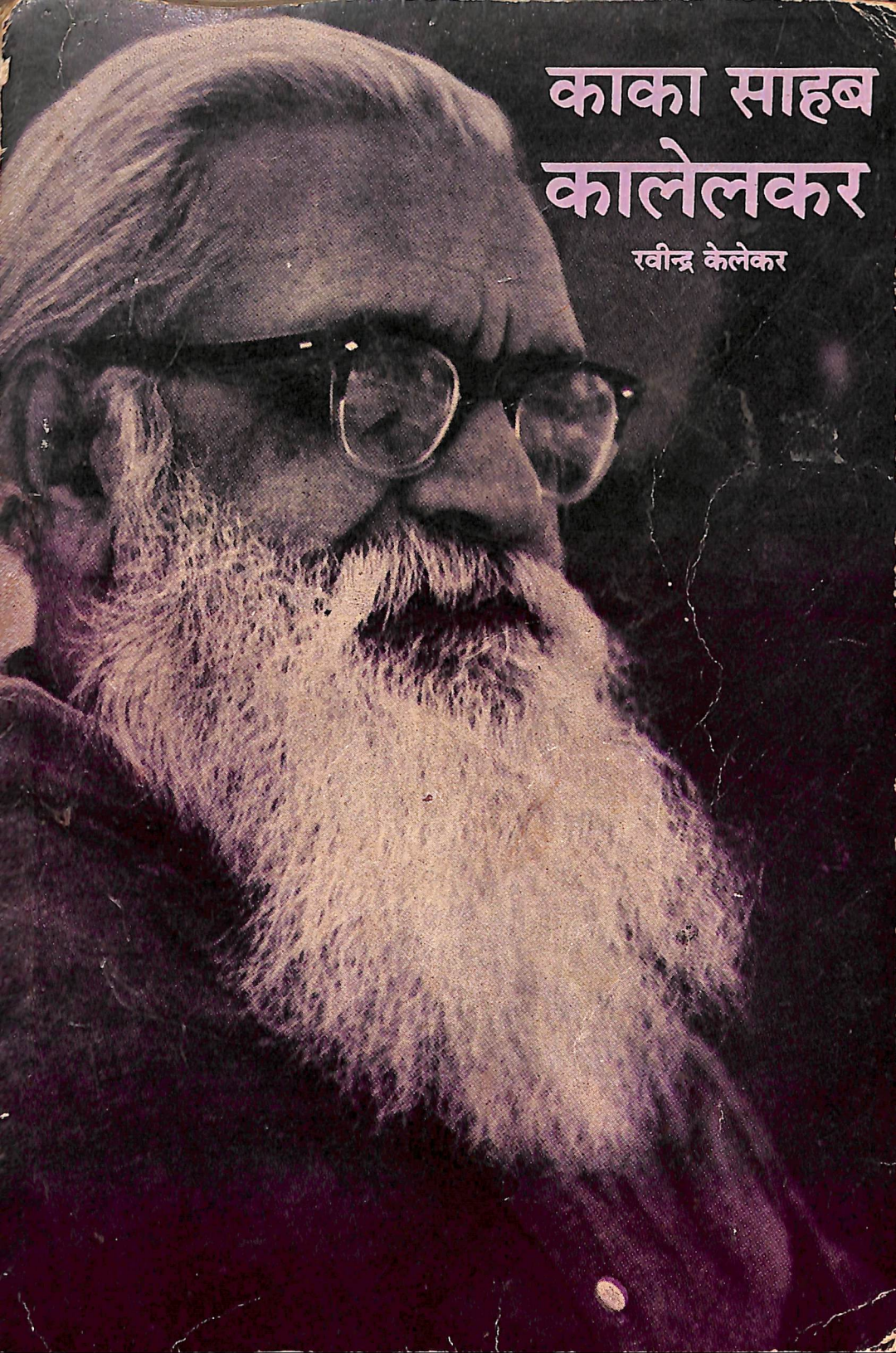

राष्ट्रीय चरितमाला

काकासाहब कालेलकर

एक समर्पित जीवन

रवीन्द्र केलेकर

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

1987 (शक 1909)

मूल हिंदी © रवीन्द्र केलेकर, 1987

रु० 20.25

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016
द्वारा प्रकाशित तथा भारत मुद्रणालय, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित ।

अनुक्रम

1. व्यक्तित्व का गठन **1-25**

जन्म; बचपन; संस्कार; उदार दृष्टि की दीक्षा; शिक्षा; देशभक्ति के बीज; पूना की ओर; आंतरिक जीवन में प्रगति; क्रांतिकारिता की दीक्षा।

2. राष्ट्र सेवा की दीक्षा **26-47**

गंगाधर राव के संपर्क में; राष्ट्रमत में; पुरुषार्थ का नया क्षेत्र; गंगनाथ विद्यालय; धैर्य की कसौटी; गृहस्थी; संकट; चारों ओर निराशा।

3. मिशन की खोज में **48-60**

हिमालय में; शांतिनिकेतन; गांधीजी से भेंट; शांतिनिकेतन से विदा।

4. आधुनिक गुजरात के निर्माता **61-73**

आश्रम की शाला में; आश्रम के प्रारंभ के दिनों में; असहयोग के दिनों में; गुजरात विद्यापीठ की स्थापना; नवजीवन के; लेखक; जेल में; गलतफहमियों के शिकार; गुजरात विद्यापीठ में।

5. नवजीवन के लेखक **74-83**

जेल में, गलतफहमियों के शिकार

6. गुजरात विद्यापीठ में **84-90**

7. जंगम विद्यापीठ **91-143**

राष्ट्रभाषा प्रचार में; अगस्त आंदोलन और जेल; स्वराज्य; गांधीजी की हत्या; नया मुख्यालय: "सन्निधि"; विनोबा; जवाहरलाल जी; साहित्य सेवा; सर्जक कलाकार के रूप में; चिंतक के रूप में; जय-पराजय और अंतिम यात्रा।

परिशिष्ट-1 : काकासाहब का पत्र

परिशिष्ट-2 : काकासाहब द्वारा प्रचलित कुछ पारिभाषिक शब्द

परिशिष्ट-3 : काकासाहब की कुछ पुस्तकें

मराठी (1907 से 1973 के बीच)

गुजराती (1920 से 1972 के बीच)

हिंदी (1920 से 1977 के बीच)

1. व्यक्तित्व का गठन

जन्म

गोवा की उत्तरी सीमा पर महाराष्ट्र का एक जिला है, जो सिंधुदुर्ग के नाम से पहचाना जाता है। अंग्रेजों के शासनकाल में यहां सावंतवाडी नामक एक छोटी रियासत थी। इस रियासत के कालेली नाम के गांव में राजाध्यक्ष उपनाम धारण करने वाला गौड़ सारस्वत ब्राह्मणों का एक परिवार रहता था। महाराष्ट्र के रिवाज के अनुसार कालेली के राजाध्यक्षों का यह परिवार शुरू-शुरू में 'कालेलकर राजाध्यक्ष' उपनाम से पहचाना जाता था। कुछ समय के बाद राजाध्यक्ष उपनाम लोगों की जबान से अपने-आप लुप्त हो गया, और यह परिवार केवल कालेलकर उपनाम से ही पहचाना जाने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से सावंतवाडी का शासन ढीला हो गया था। फल-स्वरूप रियासत में अराजकता फैल गयी थी। असुरक्षितता के इस वायुमंडल से तंग आकर रियासत के कई परिवार सावंतवाडी छोड़कर अन्य सुरक्षित स्थानों में जाकर बसने के लिए मजबूर हुए। उन दिनों जिन लोगों ने इस प्रकार स्थलांतर किया, उनमें कालेलकर परिवार के एक सदस्य थे : जीवाजी कालेलकर। सह्याद्रि लांघकर वे बेलगांव गये, और वहां हलकर्णी नामक एक देहात में एक सेठजी के यहां नौकरी करने लगे। जीवाजी स्वभाव से स्वामीभक्त थे। सेठजी के प्रति वे इतनी अभेद्‌बुद्धि से पेश आने लगे कि अपनी कमाई से जो बचत होती थी, वह बगैर हिसाब रखे सेठजी के ही यहां जमा करने लगे। अचानक एक दिन सेठजी गुजर गये और उनके साथ जीवाजी की पूरी बचत भी डूब गयी। नतीजा यह हुआ कि जीवाजी के बेटे बालकृष्ण को पढ़ाई छोड़ कर छोटी उम्र में ही नौकरी की तलाश में बाहर निकलना पड़ा। हलकर्णी छोड़कर वे बेलगांव के नजदीक शहापुर नामक गांव में जाकर बस गये। वहां उन्होंने स्वयं-प्रयत्न से थोड़ी अंग्रेजी सीख ली, और बीजापुर की ओर के

कलादगी में वे फौजी विभाग में भर्ती हुए। कुछ समय के बाद उनका मुल्की विभाग में तबादला हुआ, और यहां धीरे-धीरे पदोन्नति पाकर वे कलेक्टर के मुख्य लेखापाल (हेड एकाउण्टेंट) के पद पर पहुंचे।

इस नौकरी के सिलसिले में वे सतारा में थे। एक दिन यहां उनकी कोठी में एक साधु आ धमका। बालकृष्णजी की पत्नी राधाबाई उन दिनों गर्भवती थी। उनको देखते ही साधु ने बालकृष्णजी से कहा, आपके यहां अब की बार भी बेटा पैदा होने वाला है; उसे गुरु दत्तात्रेय का प्रसाद मानकर उसका नाम दत्तात्रेय ही रखिएगा।

बालकृष्णजी साधु को कुछ दान देना चाहते थे, पर साधु ने कुछ भी लेने से इंकार किया।

कुछ समय के बाद यानी सन् 1885 दिसंबर की पहली तारीख को बालकृष्णजी के यहां एक बालक ने जन्म लिया। उसके जन्म के समय सुबह के दस बज रहे थे, और बालकृष्णजी उस समय पूजा में लीन थे। साधु की सलाह के अनुसार बालक का नाम दत्तात्रेय ही रखा गया। छह भाई और बहन के बीच वह सबसे छोटा था। इसलिए उसके आसपास के सभी लोग उसे दत्तात्रेय के बदले प्यारभरे दत्तू के नाम से पुकारने लग गये थे।

काकासाहब के जीवन का यहीं से आरंभ होता है।

बचपन

दत्तू पांच साल का हुआ तब तक उसे इस बात का ख्याल तक नहीं था कि खाना खुद अपने हाथ से ही खाना चाहिए। उसे हमेशा या तो दादी खिलाती थी या माँ, जीजी खिलाती थी या भाभी। उसके बड़े भाई कभी-कभी चिढ़ जाते और कहते कि "इतना बड़ा हो गया है, फिर भी यह अपने हाथ से नहीं खाता।"

एक दिन घर के बुजुर्गों ने षड्यंत्र रचा। ~~मास~~ १।१५ के भोजन का समय हुआ था। दत्तू सो गया था। उसे उठाकर भोजन घर में लाकर बिठा दिया गया, और उसके सामने परोसी हुई एक थाली रखकर छोटी चीमी को कहा "चीमी, आज दत्तू को तू खिला।" चीमी दत्तू की भतीजी थी। उससे डेढ़ साल छोटी। चीमी ने हाथ में एक कौर लिया और दत्तू के मुंह धर दिया। दत्तू ने मुंह खोलकर कौर ले लिया। सब खिलखिला कर हंस पड़े और तालियां बजा कर बोले, "देखो, भतीजी चाचाजी को खिला रही है, फिर भी चाचाजी को शर्म नहीं आती।" दत्तू झेंप गया। उसने दूसरा कौर लेने से इन्कार कर उसी क्षण निश्चय किया कि आज से अपने हाथ से ही खाऊंगा।

पर किस हाथ से खाया जाता है, बिचारे को क्या मालूम। सामने बैठे हुए लोगों का अनुकरण किया तो उसका बांया हाथ थाली में पड़ा। फिर किसी ने ताना कसा, "इसे यह भी नहीं मालूम कि दाहिना हाथ कौन-सा है"। दो-तीन बार हाथों की गड़बड़ी हुई तब दत्तू ने तय किया कि इस शास्त्र में निजी बुद्धि किसी काम की नहीं है। खाना शुरू करने से पहले किसी से पूछ लेना अच्छा है। उस दिन से वह पिताजी से पूछ लेता, "पिताजी, मेरा दाहिना हाथ कौन सा है?" पिताजी बता देते! हाथ जूठा हो जाता तब वह निश्चिन्त होकर खाना खाता।

एक दिन उसने एक खोज की कि उसके दाहिने कान में एक गहना है। उसने तुरंत सिद्धांत बना लिया कि "जिस ओर के कान में गहना है, उस ओर का हाथ दाहिना है।" उस दिन से जब वह खाना खाने बैठता, चुपचाप अपना कान टटोल लेता, और जिस ओर गहने का स्पर्श होता उसी ओर के हाथ से खाना शुरू कर देता।

दायें-बायें की समस्या उसने अपने ढंग से हल कर ली थी। पर, कुछ दिनों के बाद वही समस्या नये स्वरूप में उसके सामने आकर खड़ी हुई। उसके पिताजी ने उसे विलायती जूते ला दिए थे। जूते देखकर वह खुश तो हुआ, रप जब उसने उनकी ओर बारीकी से देखा, तब हठात उसके मुंह से निकल पड़ा, "हे भगवान, इनमें भी दायें बायें का भेदभाव है।" उसने पिताजी से पूछा, "पिताजी, इनमें दायां जूता कौन-सा है, और बायां कौन-सा है?" पिताजी ने उसे तरह-तरह से समझाया। पर दायें-बायें का भेदभाव किसी तरह उसके दिमाग में बैठ न सका। फिर तो वह जूते चाहे जैसे पहनने लगा। कुछ ही दिनों में दोनों जूतों को उसने इतना निराकार बना दिया कि पिताजी के लिए भी यह बताना मुश्किल हो गया कि इनमें से कौन-सा जूता दायां है और कौन-सा बायां।

दत्तू जितना भोला था उतना ही शरारती भी था। पर उसकी शरारतें उसके अपने ढंग की थीं। उसके बड़े भाइयों को पढ़ाने के लिए घर में एक शिक्षक आया करते थे। वे बहुत अच्छी तरह से पढ़ाते थे। पर बड़े क्रोधी थे। वे जब पढ़ाने में तल्लीन हो जाते तब दत्तू को शरारत सूझती। वह दरवाजे के पीछे खड़ा रहता और रेलवे की सीटी की तरह जोरों से 'कुऊ-ऊ-ऊं' कर देता, और भाग जाता।

शिक्षक को गुस्सा हुए देख कर उसे बड़ा मजा आता।

शरारतें जब हद से ज्यादा हो जाती, तब उसे सजा दी जाती। यह सजा भी अपने ढंग की थी। उसे उसके बड़े भाई बाबा के कमरे में बिठाया जाता और

हुक्म दिया जाता, "बस अब यहीं हाथ जोड़ कर बैठे रहो"। दत्तू को यह सजा बेंत की सजा से भी कड़ी मालूम होती। उसका शरीर बैठा रहता, पर मन ? वह तो लगातार इधर-उधर दौड़ता रहता था। बैठे-बैठे वह कमरे का चारों ओर निरीक्षण किया करता। कमरे में कहां क्या रखा है, सब बारीकी से देख लेता। कभी-कभी दीये के चारों ओर घूमते मकोड़ों का वह निरीक्षण करता, और सोचता रहता कि यह मकोड़े एक ही दिशा में गोल-गोल क्यों घूमते रहते हैं ?

इस निरीक्षण में दत्तू को मजा तो आता ही, पर ज्यादा समय तक एक ही जगह पर बैठे रहना उसको कठिन मालूम होता है। तब उसकी शरारतें दूसरा रूप ले लेती। वह कमरे में बैठे-बैठे निश्चय कर लेता कि "आज मैं यहां से भाग ही निकलूंगा"। वह सो जाने का बहाना करता। पेट के बल धीरे-धीरे रेंगता हुआ दरवाजे तक पहुंच जाता और वहां पहुंचते ही भाग निकलता।

शरारतों में भी 'दिमाग चलाना' उसकी अपनी विशेषता थी। एक किस्सा है : उसका भाई केशू स्कूल जाने लगा था। एक दिन स्कूल जाते समय उसकी दवात लुढ़क गयी। वह घबड़ा कर रोने लगा। दत्तू ने उससे कहा "घबड़ाओ मत। बाबा के कमरे में स्याही की एक बड़ी शीशी मैंने देखी है। उसमें से भर लो।"

केशू ने दवात तो भर ली, पर चोरी न पकड़ी जाये इस वास्ते दत्तू के कहने से शीशी में उतना ही पानी भर दिया। बस, इतनी बड़ी सुविधा उपलब्ध हो जाने के बाद केशू की दवात दिन में चार बार लुढ़कने लगी। हर बार वह बाबा की शीशी से चुंगी वसूलने लगा और शीशी में उतना ही पानी भर देने लगा।

एक दिन पोल खुल गयी। बाबा ने उसे डांटा। वे बोले "एक तो चोरी करते हो और ऊपर से शीशी में पानी डालकर स्याही भी खराब कर डालते हो, ठहरो, मैं तुम्हें अच्छा सबक सिखा देता हूं।"

इतना सुन कर दत्तू का दिमाग नयी दिशा में काम करने लगा। उसने धीरे से केशू को कहा, "मेरे पास एक और इलाज है। हम कोयले से पटरी घिसेंगे और उससे जो काला पानी निकलेगा, वह शीशी में भर दिया करेंगे। इससे न तो स्याही पतली होगी और न तो हम पकड़े जायेंगे।"

प्रयोग अजमाया गया। नतीजा यह हुआ कि पूरी स्याही फट गयी। केशू को न सिर्फ डांट पड़ी, बल्कि मार भी खानी पड़ी। पर एक लाभ अवश्य हुआ, जब भी जरूरत पड़े, मां से कह कर बाबा की शीशी से स्याही लेने का हक उसे मिल गया। मगर शीशी में पानी न डालने की शर्त पर।

कुछ बड़ा होने के बाद का एक किस्सा है :

शादी का मौसम शुरू हो गया था। चारों ओर सुबह शाम बाजे बजने लगे थे। कभी रात को भी बजते। तब केशू और गोंदू दोनों की नींद उड़ जाती और दोनों गुस्से में कहते, "ये कमबख्त रात में शादी क्यों करते हैं ?"

एक दिन पड़ोस में ही शादी का समारोह शुरू हुआ और बाजेवालों ने दत्तू के ही बरामदे में अड्डा जमा लिया। अलबत्ता, बुजुर्गों की इजाजत से। जब कभी फुर्सत होती, तब ये लोग 'पों-पों पी-पी तड़म्-तड़म्' शुरू कर देते। केशू इन से बिल्कुल तंग आ गया। पर बेचारा क्या करता ? बुजुर्गों की इजाजत से ही तो यह सब चल रहा था। दत्तू ने देखा कि केशू गुस्से में है। उसका दिमाग तुरंत काम करने लगा। उसने केशू से कहा, "तुम तो चाहते हो न कि यह बाजे बजने बंद हो जायें ? मैं अभी बंद कर देता हूं।" इतना कह कर वह अंदर चला गया। अंदर से एक हरा आम लेकर बाहर आया और बाजेवालों के सामने बैठ कर कचड़-कचड़ कर के आम खाने लगा। खट्टे आम की सुगंध नाक में जाने के बाद बाजेवालों की जीभ अपना स्वभाव क्यों छोड़ देती ? बाजेवालों के मुंह में पानी आ गया, और बाजे बजना बंद हो गया। बड़ी आंखें निकाल कर बाजेवाले वहां से उठ कर दूसरी जगह जाकर बैठे।

संस्कार

दत्तू के बुजुर्ग दत्तू को घर के बाहर जाने नहीं देते थे। वह बाहर गया और असंस्कारी बच्चों से उसका संबंध आया तो वह भी उन्हीं की तरह गालियां देने लगेगा, उन्हीं की तरह गन्दे शब्द बोलना सीखेगा, यह उन्हें डर था। कभी बुजुर्गों की नजर से कतरा कर वह घर के बाहर चला जाता तो कोई न कोई उसे पकड़ कर घर में ला बिठा देता। इसका नतीजा यह हुआ कि दत्तू का बचपन घर के अन्दर ही बीता। उसके खेल, उसकी शरारतें घर के अन्दर ही चलती रही।

एक बात में वह बड़ा भाग्यवान था। घर में एक भाभी थी, जिसके पास कहानियों का बड़ा भंडार था। वह रोज उसे एक कहानी सुना देती। वह जब काम में रहती, दत्तू दादी के पास जाया करता। उसका कथा भंडार भी काफी समृद्ध था।

शिव-पार्वती की पूरी कथा दत्तू ने अपनी दादी के मुंह से ही पहले पहल सुनी।

मां के प्रति दत्तू की जबर्दस्त श्रद्धा थी ! वह जो भी बात कहती, वह दत्तू के दिल में तुरंत जम जाती। क्यों, किसलिए आदि प्रश्न ही उठ न पाते, "मां

कहती हैं न ? फिर वह सच ही होना चाहिए !" इस तरह वह सोचता और मां की बात चुपचाप मान लेता ! मां पढ़ी-लिखी महिला नहीं थी । पर बड़ी धार्मिक थी । घर संभालना, पति की सेवा करना, बच्चों की परवरिश में रचे-पचे रहना, सगे संबंधियों और मेहमानों का स्वागत सत्कार करना, कुल परंपरा से चले आए त्योहारों और उत्सवों को भक्ति भाव से मानना, यह था मां का सीधा सरल धर्म । घर में कोई बीमार पड़े तो मनौति मानना, और हव जब तक पूरी न हो सजग रहना यह था उनका कर्त्तव्य । कोई महत्व का काम करना हो तो कुल देवता की आज्ञा मांगे बिना वह कुछ भी न करती । कालेलकर कुटुम्ब का कुल देवता है, श्रीमंगेश, और उनका मन्दिर है, गोवा में । पर, घर में श्रीमंगेश का एक अलग कमरा था और मां के लिए कुलदेवता तो घर के कुटुम्बियों की ही तरह प्रत्यक्ष थे । मंगेश का अखंड स्मरण उन्हें रहता । दत्तू हमेशा मां के आसपास ही रहता था । कभी स्नान करने में उन्हें मदद करता तो कभी पीठ मल देता, कभी-कभी तो वह उनके बाल भी बनाता था । मां अक्सर कहा करती, "दत्तू मेरा बेटा ही नहीं, बल्कि मेरी बेटी भी है ।"

मां सुबह उठते ही चक्की चलाने बैठती थी, और आटा पीसते-पीसते गीत गाया करती थी । तब दत्तू मां की गोद में सिर रखकर लेटता था और गीत सुनता रहता था ।

मां जब कभी मन्दिर जाती, तब सजधज कर जाती । सारे गहने पहन कर जाती, और रास्ता मालूम होने पर भी चपरासी को साथ में ले जाती । दत्तू कुछ समझने लगा तब उसने मां से पूछा, "मां तुम मन्दिर जाती हो, बत सजधज कर क्यों जाती हो ? और चपरासी को भी साथ में क्यों ले जाती हो ?"

प्रश्न सुनकर मां पहले तो खिलखिलाकर हंस पड़ी । फिर बोली, "जो कुछ वैभव हमें मिला है, भगवान की कृपा से ही मिला है । इसलिए भगवान के दर्शन के लिए जाती हूं, तब सारा वैभव साथ में लेकर ही जाती हूं । वहां पर भगवान से कहती हूं, "हे भगवान ! यह सब तुमने ही मुझे दिया है । तुम्हारी कृपा हमेशा हम पर रहे । तुम्हारा स्मरण हमें रहे ।"

मां का जवाब दत्तू के लिए दीक्षा स्वरूप सिद्ध हुआ । मन्दिर में जाना हो तो भगवान की कृपा का इकरार करने के लिए ही जाना चाहिए, न कि मांगने के लिए, यह बात दत्तू के मन हमेशा के लिए जम गयी ।

दत्तू को अपना धर्म मां से ही मिला ।

पिता के प्रति पुत्र का क्या धर्म है, यह मां ने ही दत्तू को समझाया था। पिता जी अपने सुख या आराम का ख्याल किए बिना दिन रात जो मेहनत करते हैं, वह इसलिए करते हैं क्योंकि वे चाहते हैं कि तुम्हारी और हमारी सबकी भलाई हो। वे कमाते हैं, पर अपने लिए खर्च नहीं करते, सब हमारे लिए खर्च करते हैं, वह भी इसलिए क्योंकि हम लोगों के प्रति उनका प्रेम है। इसलिए उनकी सेवा करनी चाहिए। उन्हें संतोष हो, इस तरह हमारा बर्ताव होना चाहिए, इत्यादि मां से ही उसने पाया था।

पिताजी के प्रति दत्तू के मन में प्रेम था, आदर था। मां के इन वचनों ने उसका रूपांतर गहरी भक्ति में कर दिया।

पिताजी स्वभाव से निवृत्ति-परायण थे। व्यवहार के कारण जिनसे मिलना होता, उन्हीं से मिलते। कभी किसी के यहां न जाते। किसी बाहरी चीज में उन्हें रस नहीं था। बोलकर प्रेम व्यक्त करने की उन्हें आदत नहीं थी। दत्तू को उनके शाब्दिक प्रेम की कभी जरूरत भी महसूस नहीं हुई। उनके सहवास में ही उसे प्रेम मिल जाता था।

दत्तू को पिताजी से जो धार्मिक संस्कार मिले वे इस प्रकार के थे—हम अगर किसी का बुरा न करें तो भगवान हमारा कभी बुरा नहीं करेगा। कोई हमारा बुरा करेगा तो वह स्वयं संकट में आ पड़ेगा। उसकी बुराई का बदला लेने की बात हम अपने दिमाग में ही आने ही न दें। हर किसी को अपने कर्म के अनुसार फल मिलता है। अच्छे कामों का अच्छा फल, बुरे कामों का बुरा फल। हम अच्छे कर्म करते रहें।

दत्तू के मन में पिताजी के प्रति जो भक्ति थी, उसकी परिणति धीरे-धीरे पिताजी की सेवा में हुई। पिताजी पर पंखा झलना, उनको पानी पिलाना, उनके जूते साफ करना आदि सेवायें तो वह करता ही था और वह सेवा करने के लिए ऐसे प्रसंग भी खोजने लगता। जब उसे सेवा के और अवसर मिल जाते वह बड़ा खुश होता।

पिताजी कुलदेवता श्रीमंगेश की नित्य पूजा करते थे। पूजा की तैयारी करना, पूजा के बीच-बीच में जो आवश्यक हो वह देना, पूजा पूरी होने पर नैवेद्य चढ़ाना आदि सभी कामों में दत्तू पिताजी की मदद करता था। इससे उसके धार्मिक संस्कारों को पुष्टि मिलती थी, तुष्टि भी मिलती थी। इस मदद के लिए सभी दत्तू की कद्र करते थे। मां तो सबसे अधिक करतीं। कहतीं "देखो मेरा दत्तू कितनी सुन्दर पूजा करता है।" कद्र के ये शब्द सुन कर दत्तू खुश हो जाता था। पर वह सोचने लगता "माता पिता तो खुश हैं, लेकिन क्या मेरी पूजा से भगवान प्रसन्न हुए हैं?" इस प्रश्न का जवाब पाने के लिए

वह कुल देवता की ओर ताकता रहता। उसे वहां अक्सर प्रसन्नता दीख पड़ती। पर कभी-कभी इस तरह की छाप मिलती कि भगवान नाराज हैं, चिंतित हैं। तब वह पिछले दिन की सारी घटनाओं को याद करता और "कल मैंने कोई गलती तो नहीं की ?" इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने लगता। कभी कोई गलती ध्यान में आ जाती तब वह निश्चय कर लेता, आइंदा मैं ऐसी गलती कभी नहीं करूंगा।

> अंतर्मुख होकर अपने आचरण और विचारों को जांचने परखने की काकासाहब की जो साधना बाद में अखंड चलती रही, उसका यह शुभारंभ ही था।

पूजा घर में कुलदेवता के प्रतीक के रूप में एक नारियल रखा जाता था। हर साल श्रावण महीने के पहले सोमवार को वह बदला जाता था। नया नारियल विराजमान होने के बाद पुराना नारियल फोड़ा जाता था। और उसकी गरी के टुकड़े सबको प्रसाद के रूप में बांटे जाते थे। जिस दिन नया नारियल रखा जाता था उस दिन पिताजी नहा धोकर पूजा घर में जा बैठते। फिर पूजा शुरू करने से पहले एक बढ़िया कागज लेकर उस पर कुलदेवता के नाम एक पत्र लिखते। इस पत्र में पिछले वर्ष की परिवार की हालत का वर्णन किया जाता। जैसे, इस वर्ष तुमने हमारा अमुक रीति से उत्कर्ष किया। इतनी समृद्धि दी इत्यादि। फिर, साल भर की बीमारियों और चिंताओं की फेहरिस्त गिना दी जाती। और लिखते, हम अज्ञान हैं। हम तुम्हारी लीला क्या समझें ? तुमने यह जो संकट भेजे, वह हमारी भलाई के लिए ही भेजे होंगे। इसलिए हम उनको श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। अंत में अगले साल के लिए जो इच्छा होती वह लिखी जाती, सबको आरोग्य मिले, संतोष मिले, इत्यादि। और नीचे "दासानु-साद सेवक" लिखकर पिताजी हस्ताक्षर करते और पूजा के बाद यह पत्र कुल-देवता के चरणों में रख देते।

> काकासाहब लिखते हैं कि "यह प्रथा मैंने आज तक दूसरे किसी कुटुम्ब में नहीं देखी। मैंने पिताजी के ऐसे कई पत्र इकट्ठा कर रखे थे। उन्हें पढ़कर मेरे मन पर जो गहरी छाप पड़ी वह यह थी कि दुनिया अनाथ नहीं है। एक सर्व समर्थ सत्ता हमारी देखभाल करती है। उसकी इच्छा और व्यवस्था हम नहीं जानते। जो घटना हमें घातक प्रहार जैसी लगती है, वह अनिष्ट ही होगी, ऐसा मानने के लिए

कोई कारण नहीं है। यही मानकर हमें चलना चाहिए कि भगवान जो करते हैं, हमारी भलाई के लिए ही करते हैं।"

इस प्रकार दत्तू अपने घर के वातावरण में ही बहुत कुछ पाता रहा। यह वातावरण उसके चरित्र को बना रहा था। और पिताजी को भी उसके इसी चरित्र निर्माण में विशेष रुचि थी। उसे कर्मकांड सिखाने के लिए उन्होंने एक शास्त्रीजी को भी नियुक्त किया था। वे उसे और उसके भाइयों को संध्या पूजा, वैश्व देव, रूद्र, पवमान आदि वैदिक सुक्त सिखाते थे। धार्मिक वाचन के लिए पिताजी ने घर में राम-विजय, पांडव-प्रताप, हरी-विजय, जैसे ग्रंथ लाकर रखे थे। दत्तू यह ग्रंथ बड़े भक्ति-भाव से पढ़ता था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि दत्तू के मन में ठेठ बचपन में "भक्त" बनने की धुन सवार हुई। उसे नामस्मरण का भी चस्का लगा। उसे पंडुलिक श्रवण आदि पितृ भकतों की कथायें विशेष पसन्द आने लगी।

मां ने उसे पितृ भक्ति सिखाई थी। वैसी, बंधु भक्ति भी सिखाई थी। उसके सामने लक्ष्मण का आदर्श रखा था और कहा था, लक्ष्मण की तरह तूं भी अपने बड़े भाइयों के कहने में रह। बिचारा दत्तू, लक्ष्मण को तो एक ही बड़ा भाई था। दत्तू के हिस्से पांच भाई आए थे, और वे राम नहीं थे। वे दत्तू की लक्ष्मण वृत्ति का खूब लाभ उठाते थे। ऊपर से उसे पीटते भी थे। पर दत्तू ने अपने "धर्म" में कभी कोई अंतर नहीं आने दिया। बल्कि काफी हद तक निभाया।

कालेलकरों को क्या शोभा देता है, क्या नहीं देता, इस संबंध में उसकी मां की कुछ धारणाएं थीं। उनके द्वारा मां उसे नीति की दीक्षा देती थी। अपना परिवार सदाचारी है, परोपकारी है, एकदिल से रहता है इस तरह की कीर्ति पाने के लिए मां हमेशा लालायित रहती थी। और जब दूसरों के मुंह से परिवार की प्रशंसा सुनती, तब वह बहुत खुश हो जाती थी।

घर में साल भर में कई उत्सव चलते रहते थे। गौरी पूजा, गणेश चतुर्थी, ऋषि पंचमी, वट सावित्री, जन्माष्टमी, रामनवमी, दीपावली, तुलसी विवाह, होली, हर एक त्यौहार में दत्तू उत्साह के साथ शरीक होता था। और कुछ न कुछ पाता रहता था। कला का प्रेम उसने इन धार्मिक त्योहारों से ही ग्रहण किया था।

उदार दृष्टि की दीक्षा

भले ही सनातनी, पर जिस वातावरण में दत्तू का बचपन बीत रहा था, वह एक दृष्टि से था तो समृद्ध ही। पर बावजूद इसके उसके जीवन में एक कमी

रह गयी । लोगों से मिलना जुलना वह कभी न सीख सका । एक तो पिताजी निवृत्ति परायण थे, कहीं आते-जाते नहीं थे । और दूसरा, सातारा में उनके अपने समाज के लोग नहीं थे । सब "पराये" थे। दत्तू कभी मां के साथ शाहपुर जाता था । वह तो कालेलकरों का गांव था । और वहीं उसके रिश्तेदार भी बहुत थे । किन्तु वहां पर भी वह अपने को अलग ही महसूस करता था । इन सब कारणों से दत्तू के सामाजिक जीवन का एक पहलू हमेशा के लिए कमजोर रह गया ।

किन्तु इस कमी के कारण एक बहुत बड़ा लाभ भी हुआ । वह कल्पना-विलास में मशगूल रहने लगा । बड़ा होने पर मैं क्या करूंगा, राजा बन गया तो राज्य जैसे चलाऊंगा, इंजीनियर बना तो जंगलों में रास्ते कैसे निकालूंगा, पहाड़ों को खोदकर सुरंग कैसे तैयार करूंगा, नदियों पर पुल कैसे तैयार करूंगा आदि कल्पनायें उसके दिमाग में अखंड चलती रहती थी । वह उसे अंतर्मुख बना देती । इस अंतर्मुख वृत्ति के साथ प्रकृति की ओर उसका ध्यान बहुत जल्दी आकर्षित हुआ । नदी नाले तालाब बगीचे आदि प्रकृति के विविध रूप देखने में वह तल्लीन हो जाता था । नदी के घाट पर बैठकर नदी के प्रवाह की ओर टकटकी लगाये देखते रहने में उसे आनंद मिलता । वह ऊंचे पहाड़ों की ओर देखता रहता, तो कभी बादलों के बदलते रूप और रंगों को देख कर भावविभोर हो जाता था । रात के समय आकाश का निरीक्षण करता और सितारों से घंटों बातें किया करता ।

शाहपुर के पास ही बेलगुंदी में उसका ननिहाल था । वहां एक छोटी सी नदी बहती है । उसका नाम मार्कंडी है । वह बचपन में दत्तू की सखी बन गयी थी ।

प्रकृति का हर उन्मेष उसके लिए भक्ति का विषय बन गया था, जिससे निर्दोष आनंद अनुभव करने की कला अनायास ही उसे हाथ लग गयी थी ।

वह सात साल का हुआ, तब पिताजी का सातारा से कारवार तबादला हुआ ।

कारवार भारत के पश्चिमी तट पर का एक नितांत रमणीय प्रदेश है । उसका अर्द्ध चंद्रकार समुद्र तट, अप्रतिम वनश्री से लदी हुई उसकी हरी नीली पहाड़ियां, समुद्र से मिलने वाली उसकी सुड़ौल काली नामक नदी, चारों ओर दिखाई देने वाले नारियल, आम, कटहल, कोकम, काजू आदि के पेड़ सब देखकर लगता है, मानो यह कोई नगर नहीं बल्कि एक बड़ा सुंदर बगीचा है । यहां जो प्राणों की लीला, गति का नृत्य और वैचित्र्य का वैभव दिखाई देता है, वैसा शायद ही और किसी प्रदेश में दिखाई देगा । रवीन्द्रनाथ अपनी किशोरा-

वस्था में अपने बड़े भाई के साथ यहां आकर रहे थे। और कारवार की प्राकृतिक शोभा से काफी प्रभावित हुए थे।

दत्तू भी बहुत प्रभावित हुआ।

कारवार जाने के लिए पिताजी ने जो रास्ता पसंद किया था, वह तो और भी सुंदर था। शाहपुर से लोंडा, लोंडा से केसर रॉक और वहां से गोवा होकर वे कारवार गये। इस यात्रा में दत्तू ने आंखें फाड़-फाड़ कर प्रकृति की शोभा देखी। एक से बढ़कर एक सुंदर और सुंदरतम दृश्य देखकर वह अंचभे में पड़ गया। उसने इस यात्रा में पहली बार एक जल-प्रपात देखा, जो दुग्धसागर के नाम से पहचाना जाता है। वह अवाक् होकर उसकी ओर देखता रहा। दो तीन घंटों के बाद उसने जिंदगी में पहली बार समुद्र भी देखा और उसे देख कर वह भाव त्रिभोर होकर नाचने लगा।

दत्तू के जीवन की यह पहली ही यात्रा थी, जो अनुभव से समृद्ध थी। उसकी आंखें कान और मन इस यात्रा में जितने तृप्त हुए, उतने उससे पहले कभी नहीं हुए थे।

पहले कुछ महीनों तक दत्तू कारवार के प्राकृतिक सौंदर्य का पान करता रहा। जैसे-जैसे वह उससे परिचित होता गया, उसे यह सब स्वाभाविक सा मालूम होने लगा। बाद में धीरे-धीरे जीवन के दूसरे पहलूओं की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होने लगा।

सबसे पहले उसका ध्यान गया यहां की कोंकणी भाषा की ओर। उसने पहले शाहपुर में कोंकणी सुनी थी। उसे वह अशुद्ध मराठी समझता था। कोंकणी सुनकर कभी-कभी उसे हंसी भी आती थी। यहां कारवार में सभी लोग कोंकणी, सिर्फ कोंकणी ही बोलते थे। पढ़े लिखे भी और अनपढ़ भी। जब कोई उसे मराठी में बोलता, तब उसे वह कृत्रिम सी लगती थी। वह सोचने लगा, इसका मतलब यह है कि हर समाज की अपनी-अपनी भाषा भी होती है।

भाषा के बाद उसका यहां के लोगों के आहार-विहार की ओर ध्यान गया। उसका अपना परिवार शुद्ध शाकाहारी था। मत्स्याहार और मांसाहार करने वाले लोग या तो मुसलमान, ईसाई जैसे परधर्मी होते हैं या हिंदु समाज की नीच जातियों के लोग होते हैं, यही उसका ख्याल था। यहां कारवार में सभी मत्स्याहार करते थे। उच्च जाति के माने जाने वाले सारस्वत ब्राह्मण भी मछली खाते थे।

अपनी ही जाति के लोगों में यह अनाचार देखकर उसे सदमा पहुंचा।

दत्तू के यहां खाने-पीने के बारे में कड़े आग्रहों का पालन होता था।

अब्राह्मणों का लाया हुआ पानी कभी पीया नहीं जाता था। यही नहीं, नहाने के लिए भी नहीं लिया जाता था। यहां कारवार में अ-ब्राह्मणों के लाये हुए पानी का किसी को ऐतराज नहीं था। वह पीया भी जाता था।

उसने यहां कई ऐसे रिवाज देखे, जो उसके अपने रिवाजों से बिल्कुल विपरीत थे। यह सब देखकर उसे लगा, यहां तो घोर कलियुग आ गया है।

धीरे-धीरे वह सोचने लगा, मैं जिन रिवाजों को कलियुग के मानता हूं, वे भला यहां सर्वमान्य कैसे हुए? मैं अपने रिवाज अच्छे मानता हूं। और इनके विपरीत मानता हूं। यही नहीं, अनुचित भी मानता हूं। क्या, सचमुच ये अनुचित हैं? विपरीत हैं? सच क्या है?

सोचते-सोचते एक बात उसके मन में बैठ गयी कि हर एक समाज की जैसी भाषा अलग होती है, वैसे रिवाज भी अलग होते हैं। हम जिन रिवाजों को मानते हैं, वह हमारे लिए भले ही सौ फिसदी सच या ग्राह्य हों, पर इसका मतलब यह नहीं कि दूसरे जो मानते हैं वह गलत है।

भिन्न समाजों के भिन्न रिवाजों को समझने की उसकी जिज्ञासा जागृत हुई। इसकी परिस्थिति यह हुई कि उसकी मनोवृत्ति धीरे-धीरे उदार बनती गयी और पराये लोगों की ओर वह सहानुभूति से देखने से लगा।

शिक्षा

दत्तू की पढ़ाई किसी एक जगह नहीं हुई। मराठी की पहली कक्षा उसने सातारा में पूरी की। दूसरी के समय वह कारवार गया। पर, उन दिनों उसके बड़े भाई पूना में पढ़ते थे। उनकी सुविधा के लिए पिताजी ने वहां एक नया घर बसाया था। और दत्तू की मां को वहां भेज दिया था। फलस्वरूप मां के साथ दत्तू को भी पूना जाना पड़ा। वहां उसने नूतन मराठी विद्यालय में मराठी की दूसरी कक्षा पूरी की। तीसरी कक्षा के समय वह कारवार लौट आया। चौथी के समय वह शाहपुर गया। इसके बाद अंग्रेजी शिक्षा शुरू हुई। अंग्रेजी की पहली कक्षा उसने कारवार में पूरी की। दूसरी सावनूर में। तीसरी के समय वह फिर से कारवार आया। चौथी के समय धारवाड़ गया। पांचवीं, छठी और सातवीं कक्षायें उसने बेलगांव में पूरी की।

इस देश में पाठशालाओं का वायुमंडल हमेशा स्पर्धा का ही रहा है। नैतिक दृष्टि से यह वायुमंडल घटिया ही माना जाना चाहिए। हमारी सब पाठशालाएं प्राचीन काल से इसी वायुमंडल में चलती आयी हैं। सौभाग्य से दत्तू के हिस्से में एक ऐसी भी पाठशाला आयी, जिसका वायु मंडल बिल्कुल अलग ढंग का था। वहां नंबर, ग्रेड आदि की स्पर्धा नहीं थी। उल्टे वहां पर विद्यार्थियों के

चरित्र की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। यह थी, कारवार की "हिन्दू स्कूल" नामक शाला। कुछ आदर्शवादी नौजवान यह शाला चलाते थे। उन दिनों यहां अंग्रेजी की तीन प्राथमिक कक्षायें ही पढ़ाई जाती थी। पर पढ़ाने वाले शिक्षक न केवल उत्तम शिक्षक थे, बल्कि चरित्रवान और आदर्शवादी पुरुष भी थे।

इनमें से दो शिक्षकों का दत्तू के जीवन पर काफी प्रभाव रहा। एक थे, हरि कामत और दूसरे थे, वामन मंगेश दुभाषी। दोनों अंग्रेजी पढ़ाते थे और विद्यार्थियों में काफी रुचि रखते थे। विद्यार्थियों की नैतिक शिक्षा पर उनका विशेष ध्यान रहता था। इनमें हरि मास्टर सत्य के विशेष आग्रही थे। झूठ बोलने से चाहे जो लाभ होता हो, झूठ बोलने में हीनता है, हर हालत में सच ही बोलना चाहिए, यह सीख दत्तू ने सब से पहले हरि मास्टर से ही ली। दूसरे वामन मंगेश दुभाषी हर इतवार को धार्मिक शिक्षा का एक वर्ग चलाते थे। उसमें न सिर्फ हिंदू स्कूल के बल्कि सरकारी हाई स्कूल के भी विद्यार्थी शामिल होते थे। उनका बोलने का ढंग बड़ा ही सुन्दर था। बोलते समय उनकी लगन और गंभीरता अधिक उभर आती थी और उसमें यही भाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता था कि वे जीवन जैसे एक पवित्र विषय पर बोल रहे हैं। दत्तू उनके प्रवचन जैसे-जैसे सुनता गया, वैसे-वैसे उसे यकीन होता गया कि वामन मास्टर एक मामूली शिक्षक नहीं, बल्कि एक चरित्र संपन्न भव्य पुरुष हैं। और वह अनजाने में ही उनका भक्त बनता गया। वामन मास्टर ने ही दत्तू को सामाजिक नीति और सामाजिक सुधारों का महत्व सबसे पहले समझाया।

पाठशालाओं में दत्तू हमेशा होशियार लड़का माना जाता था। पर एक बात थी—दूसरे विद्यार्थियों की तरह वह दिन रात पढ़ता नहीं था। नंबर, क्लास, स्कॉलरशिप की इच्छा ही उसके मन में कभी जागृत नहीं हुई। परीक्षा में पास हो जाऊं इतना ही देखता था। इसलिए कक्षा में शिक्षक जो पढ़ाते थे, उसे वह ध्यान पूर्वक सुनता था। उतनी ही पढ़ाई उसके लिए प्रर्याप्त थी।

किन्तु पाठशालाओं में उसने जो पाया, उससे बहुत कुछ उसने इस उम्र में पिताजी के साथ जो यात्रायें की, उनमें पाया। मैट्रिक तक की पढ़ाई के दरमियान यानी अठारह साल की उम्र तक उसने कई स्थलों की यात्रायें की। गोकर्ण, गोवा, नरसोबाची वाडी, पंढरपुर, जरंडा, इन तीर्थ क्षेत्रों के अलावा सावंतवाडी, मीरज, जत, रामदुर्ग, मुधोल, जमखिंडी सावनूर जैसी रियासतें भी उसने देख ली थीं।

इन यात्राओं में उसने क्या-क्या देखा। प्रकृति के कई स्वरूप तो देखे ही।

श्रद्धा के जाग्रत स्थान भी देखे। धार्मिक कट्टरता और कर्मकांड के गढ़ देखे। वैसे भक्ति के महोत्सव जैसे स्थल भी देखे। (पंढरपुर में उसने महाराष्ट्रीय संतों का साहित्य गहराई के साथ पढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई) कला के नमूने देखे। कला रसिकता के नाम विलासिता भी देखी। तरह-तरह के रीति रिवाज देखे और जन जीवन का परिचय पाया। हर यात्रा से जब वह लौटता था, नया और अनुभव समृद्ध होकर लौटता था। असल में उसकी सही शिक्षा दीक्षा इसी यात्रा रूपी पाठशाला में हुई है।

सौभाग्य से उसे पिताजी के रूप में एक ऐसे व्यक्ति मिले जो पाठशालाओं की शिक्षा से अधिक यात्राओं में मिलने वाली शिक्षा का महत्व जानते थे। उन्हें काम के कारण बार-बार इधर-उधर जाना पड़ता था। हर समय वे दत्तू को बुला कर पूछते, "मैं अमुक जगह जा रहा हूं। तुम्हें चलना है?"

और दत्तू तुरंत हां कह कर उनके साथ चल पड़ता।

एक बार ऐसा हुआ—

दत्तू प्री-मैट्रिकुलेशन में पढ़ता था। परीक्षा के लिए सिर्फ दो ही दिन बाकी थे। इतने में पिताजी कहीं जाने के लिए निकल पड़े। दत्तू ने पूछा, 'अब की बार मुझे साथ में नहीं ले जाना है?'

'तुम्हारी तो परीक्षा है न!'

'हां, है तो सही। आप के साथ चल पड़ा तो अधिक से अधिक नुकसान क्या होगा? एक साल खोना पड़ेगा। इतना ही न?'

दत्तू का यह जवाब सुनकर पिताजी बोले, "तो चलो।"

दत्तू परीक्षा छोड़कर यात्रा के लिए निकल पड़ा। छुट्टियों के बाद जब वह स्कूल लौटा, वह उसी कक्षा में जा कर बैठा जिसमें वह पिछले साल पढ़ रहा था। पर, दत्तू के शिक्षक दत्तू को जानते थे। उसकी होशियारी से वे परिचित थे। वे बोले, "जाओ मैट्रिक की कक्षा में जा कर बैठो।" उन दिनों स्कूलों के नियम आज के जैसे अंधे नहीं थे।

देश भक्ति के बीज

घर के वायुमंडल में ऐसी कोई बात नहीं थी, जिससे दत्तू को देशभक्ति की प्रेरणा मिले। उसके आसपास का समाज भी ऐसा था जो यही मानता आया था कि जिनका हम नमक खाते हैं, वे भले ही विदेशी हों, उनके प्रति हमें बेवफा नहीं होना चाहिए। दत्तू के पिताजी अंग्रेजों की नौकरी करते थे। और उसी कारण समाज में उनकी प्रतिष्ठा भी थी।

फिर भी किसी न किसी रूप में देशभक्ति के संस्कार उसके दिमाग पर पड़ने

ही लगे।

वह पूना में मराठी दूसरी कक्षा में पढ़ रहा था। उस समय उसने पड़ोस के एक सज्जन के मुंह से पहले पहल छत्रपति शिवाजी की कथायें सुनी। इन कथाओं के कारण उसके दिमाग में एक बात बैठ गयी कि देश नामक कोई हस्ती है, जो हमारी अपनी होते हुए भी आज विदेशी अंग्रेजों के कब्जे में है और उसे हमें छुड़ाना है।

वह जब थोड़ा बड़ा हुआ तब उसे शिवाजी की जीवनी पढ़ने को मिली। वह उससे काफी प्रभावित हुआ। उसने यह जीवनी अपने भाई केशू और गोंदू को भी पढ़ने को दी। फलस्वरूप, तीनों शिवाजी के भक्त बन गये। तीनों जब घूमने जाते तब कभी-कभी किसी पहाड़ी पर शिवाजी और अफजल खां की लड़ाई भी खेल लेते।

फिर, एक समय आया जब दत्तू की देशभक्ति ने भाषणों का एक रूप ले लिया। वह केशू और गोंदू के साथ और दो-चार मित्रों को बुला लेता और उनके सामने देशभक्ति का भाषण दे देता। भाषणों के विषय दो ही रहते थे। एक, शिवाजी की स्तुती और दूसरा, अंग्रेजों की निंदा। इसी समय उसका एक और बात की ओर ध्यान गया कि अंग्रेजों के विरुद्ध मे हमें अगर लड़ना है तो शरीर मजबूत होना आवश्यक है। यह बात ध्यान में आते ही कसरत-कुश्ती शुरू कर दी।

इतने में, पूना में प्लेग की बीमारी फैल गयी। देखते-ही-देखते इस बीमारी ने प्रलयकाल का रूप ले लिया। लोग पटापट मरने लगे। कई घर, कई मुहल्ले उध्वस्त हो गये। हाहाकार की इस आग में फौजी अफसरों ने, जो प्लेग निवारण के काम में तैनात कर दिए गये थे, अपने अत्याचारों का घी डाला। नतीजा: रैण्ड और आर्यस्ट नामक दो अंग्रेज अफसरों की पूना में हत्यायें कर दी गयीं।

दत्तू इस समय ग्यारह साल की उम्र का था। शाहपुर में अंग्रेजी दूसरी कक्षा में पढ़ रहा था। उसने जब यह खबर पढ़ी, उसके रोंगटे खड़े हो गये। लोगों के मुंह से उसने यह सुना कि यह किसी देश भक्त का ही काम है। यही नहीं, बल्कि लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से ही यह काम हुआ है। उन दिनों महाराष्ट्र में लोकमान्य की ख्याति शिवाजी के आधुनिक अवतार के रूप में थी और देश हित का जो भी काम होता था, उसका संबंध बिना किसी सबूत के लोग लोकमान्य के साथ जोड़ देते थे। कुछ दिनों के बाद दत्तू ने सुना कि लोकमान्य गिरफ्तार कर लिए गये हैं और उन्हें कारावास की सजा हुई है। फिर कुछ दिनों के बाद खबर मिली कि रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या करने के वाले कोई चाफेकर नामक दो भाई हैं, जो किसी क्रांतिकारी दल के सदस्य हैं।

शिवाजी की कथायें सुनकर जो देशभक्ति के बीज दत्तू के दिमाग में बोये गये

थे, वे कब के अंकुरित हो चुके थे। उन्हें अब खाद-पानी भी काफी मिल गया। उसे अब उत्कटता के साथ महसूस होने लगा कि देश के लिए 'कुछ करके दिखाने के' दिन अब आ गये हैं। उसने केशू और गोंदू को लेकर एक गुप्त मंडली की स्थापना की। वह कहने लगा, लोकमान्य इसीलिए गिरफ्तार कर लिए गये क्योंकि वे अंग्रेजों के विरुद्ध भाषण देते थे, लेख लिखते थे। अंग्रेजों के विरुद्ध में लड़ने का यह तरीका गलत है। शिवाजी ने कभी भाषण नहीं दिए और न ही लेख लिखे। हमें शिवाजी का ही रास्ता अपनाना होगा।

इत्तेफाक से उन्हीं दिनों उसके हाथ में एक तलवार आ गयी। उनका घर पीछे की ओर से बढ़ाया जा रहा था। उसके लिए नींव खोदते समय जमीन में गड़ी हुई एक तलवार मिल गयी थी। दत्तू को लगा कि भवानी माता ने शिवाजी को तलवार दी थी, उसी तरह दैवयोग से उसे भी यह तलवार 'धरती माता' की ओर से मिल गयी है। तलवार को देखकर उसका और केशू, गोंदू का जोश बढ़ गया। तीनों ने देश के लिए मर मिटने का संकल्प किया।

इस संकल्प को पुष्टि देने का काम नियति ने भी अपने ढंग से किया। जिस प्लेग ने पूना में हाहाकार मचाया था, वह एक दिन दत्तू के घर पर आ धमका। उसमें उसका तीसरा भाई विष्णु चल बसा। दत्तू ने कुछ साल पहले अपनी बहन अक्का की मृत्यु देखी। विष्णु की मृत्यु घर में दूसरी थी। उसे यह दूसरी मृत्यु भयानक मालूम हुई। किसी ने कलेक्टर से शिकायत की घर में प्लेग से मृत्यु होने पर भी दत्तू के पिताजी ने सरकार से यह बात छिपा कर रखी है। बात छिपा कर रखने का पिताजी का कोई इरादा नहीं था। जो कुछ बना था, वह इतनी तेजी से बना था कि वे अपना होश-हवास खो बैठे थे। वे अपनी कैफियत पेश करने के लिए कलेक्टर के पास गये। पर कलेक्टर ने उनसे मिलने से इन्कार कर दिया। कलेक्टर की इस रुखाई से वे घबड़ा गये। माफी मांगने के सिवा दूसरा इलाज नहीं था। वे माफी मांगने के लिए कलेक्टर की कचहरी के दरवाजे पर जा खड़े रहे। साथ में उन्होंने — न मालूम क्यों— दत्तू को भी लिया। कलेक्टर जब घर लौटने के लिए कचहरी के बाहर आए तब दत्तू के पिताजी हाथ जोड़ कर उनके सामने खड़े हुए और गिड़गिड़ा कर बोले 'युवर औनर अलोन कैन सैव मी नाऊ' (आप ही मुझे अब बचा सकते हैं)। कलेक्टर ने उनकी ओर देखा और उन्हें दुत्कार कर वे चले गये। पिताजी का वह दीन चेहरा, उनकी वह असहाय स्थिति और गोरे कलेक्टर की वह दुत्कार देख कर दत्तू का दिल बगावत के लिए उठ खड़ा हुआ। उसने उसी क्षण निश्चय किया "मैं इन अंग्रेजों का राज्य तोड़ डालूंगा। जिंदगी में बस यही एक काम करता रहूंगा; और कुछ भी नहीं करूंगा।"

पूना की ओर

चार साल बाद सन् 1902 में वामनराव शिरोडकर की छोटी बेटी के साथ विवाह हुआ। उन दिनों छोटी उम्र में विवाह कर दिए जाते थे। दुल्हन का हाथ हाथ में लेकर जब उसने अग्नि के आसपास सात फेरे लगाये, उसे उत्कटता के साथ यह महसूस हुआ कि "मैं अब पहले का नहीं रहा। मैं समाज का अब एक जिम्मेदार सदस्य बन गया हूं। मेरी जिम्मेदारियां बढ़ गयी हैं।"

अपनी जिम्मेदारियों में किन-किन बातों की शुमार होती है, इसकी उसे स्पष्ट कल्पना नहीं थी। पर वह इतना जानता था कि उसे देश को मुक्त करना है। और इस महान् आदर्श में उसे अपनी पत्नी को भी शामिल कर लेना है। देश को अब एक ही नहीं, बल्कि दो सेवक मिल गये हैं।

विवाह के दूसरे ही वर्ष वह मैट्रिक की परीक्षा में बैठा और उत्तीर्ण हुआ। उन दिनों यूनिवर्सिटी स्कूल फाईनल नामक एक परीक्षा ली जाती थी, जिसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। दत्तू इस परीक्षा में भी बैठा और न सिर्फ उत्तीर्ण हुआ बल्कि इसमें उसने नम्बर भी अच्छा पाया।

अब सवाल आगे की पढ़ाई का था। उसने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि किसी भी हालत में उसे पूना जाना है। एक तो पढ़ाई की दृष्टि से पूना सबसे बढ़िया स्थान था और दूसरा, वह देश सेवकों का आगार था। देश की सेवा की तालीम भला और कहां मिल सकती थी। और तीसरा लोकमान्य तिलक जी का वह कार्यक्षेत्र था और दत्तू ने लोकमान्य का चुनाव अपने नेता के रूप में कब का कर लिया था।

पर पूना जाने के लिए पिताजी की अनुमति की आवश्यकता थी, और पिताजी ने पहले ही यह तय कर लिया था कि दत्तू को किसी भी हालत में पूना नहीं भेजना है। उन्होंने दत्तू के बड़े भाईयों को पढ़ाई के लिए पूना भेजा था और उन्होंने पिताजी को बिल्कुल निराश किया था। एक तो उन्होंने पढ़ाई नहीं की। फिर नास्तिक भी बने थे। और पिताजी से काफी दूर भी चले गये थे।

दत्तू ने एक दिन हिम्मत बटोर कर पिताजी के सामने पूना जाने का प्रस्ताव रखा।

'बिल्कुल नहीं।' पिताजी ने तपाक से उत्तर दिया।

दत्तू बोला, "मुझे मालूम है, आप क्यों मना कर रहे हैं। बाबा और अप्पा ने आपको निराश किया इसीलिए न? पर, यह तो उल्टा न्याय हुआ। अपराध उनका है और आप सजा मुझे दिला रहे हैं। बाबा, अप्पा को पढ़ने में दिलचस्पी नहीं थी। आपने जबरदस्ती उनको पूना भेजा। मुझमें पढ़ने की उत्कंठा है और मैंने अब तक आपको निराश नहीं किया है।"

पिताजी का दिल पिघला और दत्तू को उन्होंने पूना जाने की अनुमति दी।

जिस दिन दत्तू कॉलेज में जाने के लिए ट्रेन में बैठा, उसी दिन उसके पिताजी भी पूना जाने के लिए रवाना हुए। पिताजी उन दिनों सांगली राज्य के ट्रेजरी ऑफिसर थे। राज्य के तीन लाख रुपये लेकर वे पुलिस रक्षा के साथ पूना जा रहे थे। पूना से उन्हें प्रोमिसरी नोट खरीदने थे। पिताजी पूना क्यों जा रहे हैं यह जब दत्तू को मालूम हुआ, उसने पिताजी के सामने एक प्रस्ताव रखा। उसने कहा "नोटों के भाव तो रोज बदलते रहते हैं। हम अगर कुछ कोशिश करें, तो खुले बाजार में सस्ती कीमत में नोट खरीद सकेंगे। राज्य को तो खुले भाव ही बतलायेंगे। और बीच में जो मुनाफा होगा, वह हम ले लेंगे। किसी को पता भी नहीं चलेगा और हमें सहज ही काफी मुनाफा होगा।"

दत्तू का ख्याल था कि वह पिताजी को व्यवहार की बात सुझा रहा है। इसमें कुछ अनुचित है, इसका उसे कोई ख्याल नहीं था। उसके सुझाव से पिताजी को चोट लगी है, इसकी तो उसे कल्पना तक नहीं थी। थोड़ी देर के बाद भर्रायी हुई आवाज में पिताजी बोले "दत्तू, मुझे ख्याल तक नहीं था कि तुममें इतनी हीनता है। तेरी बात का मतलब यही है न, कि मैं अन्नदाता को धोखा दे दूं। धिक्कार है तेरी शिक्षा पर। ईश्वर ने हमें जो दिया है उसी से हमें संतोष मानना चाहिए। लक्ष्मी तो क्या, आज है, कल चली भी जा सकती है। इज्जत के साथ अंत तक रहना यही बड़ी बात है। मरने के बाद जब ईश्वर के सामने खड़ा रहूंगा तब क्या जवाब दूंगा? कॉलेज में क्या तू यही पढ़ेगा? इसकी अपेक्षा तू यहीं से अगर वापस लौट जाये तो क्या बुरा है?"

यह सुन कर दत्तू सन्न रह गया। गाड़ी में सारी रात उसे नींद नहीं आयी। सुबह पूना पहुंचने के पहले ही उसने निश्चय कर लिया कि हराम के धन का लोभ वह कभी नहीं करेगा। इस निश्चय के साथ ही उसने कॉलेज में प्रवेश किया।

कॉलेज की सच्ची शिक्षा तो उसे सांगली और पूना के बीच ट्रेन में ही मिल चूकी थी।

आंतरिक जीवन में प्रगति

देश के शैक्षिक जगत में उन दिनों पूना के फर्ग्युसन कॉलेज की विशेष ख्याति थी। क्योंकि उसकी स्थापना लोकमान्य तिलक जैसे देश सेवकों ने की थी। इसी कालेज में युवक दत्तात्रेय भर्ती हुआ और चार साल उसी के वायुमंडल में पोषण पाता रहा। उन चार सालों ने उसके आंतरिक जीवन में तीव्र गति से प्रगति की। उन दिनों फर्ग्युसन कालेज वाद-विवादों का मानों एक कुरुक्षेत्र बन गया

था। पूना में जितने भी राजनैतिक दल थे, उन सभी के प्रतिनिधि इसके विद्यार्थी निवास में (हॉस्टेल) में रहते थे। और उसका वातावरण उन्होंने ऐसा बना डाला था कि वहां कोई भी व्यक्ति पक्षरहित या निष्पक्ष रह ही नहीं सकता था। ज्यों ही दत्तात्रेय ने विद्यार्थी निवास में कमरा लिया, हर पक्ष का समर्थक उसे अपने पक्ष का बनाने की कोशिश में लग गया।

देश की राजनीति उन दिनों दो विचार धाराओं में बहती थी। और दोनों के नेता दो महाराष्ट्रीय थे। दोनों पूना में ही रहते थे। एक थे गोपाल कृष्ण गोखले, जो नर्म दल के नेता माने जाते थे। और दूसरे थे बाल गंगाधर तिलक जो गर्म दल के नेता थे। दत्तात्रेय का झुकाव तिलक की ओर था। पिछले तीन सालों से वह उनका 'केसरी' साप्ताहिक नियमित रूप से पढ़ता आया था। और एक तरह से उनका भक्त भी बन गया था। पर, तिलक जी की एक बात उसकी समझ में नहीं आती थी। वह अपने आप से पूछता रहता "जो अंग्रेजों के सामने शेर बन सकता है वह भला अपने यहां के रूढ़िवादी समाज के सामने बिल्ली जैसा कैसे बन जाता है ?" वह सौ फीसदी तिलकपंथी बन ही न सका। वह मन-ही-मन कहता रहा, "काश ! लोकमान्य जिस प्रकार अंग्रेजों के विरोध में लड़ते हैं उसी प्रकार रूढ़िवादी समाज के विरोध में भी लड़ते।"

राजनीतिक क्षेत्र में उसका तिलक की ओर झुकाव रहने पर भी सामाजिक क्षेत्र में वह संपूर्णतः सुधारकों के पक्ष का था।

सुधारकों के अग्रणी आगरकर भी पूना में रहते थे। और 'सुधारक' नामक एक पत्रिका भी चलाते थे। दत्तात्रेय यह पत्रिका बड़ी चाव से पढ़ता था। और उससे काफी कुछ पाता था।

गोखले के बारे में तिलक के अन्य अनुयायियों की तरह उसके मन में शुरू-शुरू में अश्रद्धा ही थी। पर, फर्ग्युसन में उसने गोखले की काफी स्तुति भी सुनी। स्तुति और निंदा दोनों इतनी मात्रा में सुनी कि किसी निर्णय पर पहुंचना उसे कठिन मालूम होने लगा। उन दिनों इंग्लैण्ड से 'इंडिया' नामक एक पत्रिका निकलती थी, जिसमें गोखले जी के भाषण छपते थे। दत्तात्रेय इस पत्रिका को भी दिलचस्पी के साथ पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते उसके मन में इतनी श्रद्धा तो उत्पन्न हो गयी कि गोखले जो कुछ करते हैं सच्चे दिल से करते हैं, और देश हित की लगन से ही करते हैं। पर उन्हें भी वह अपना पूरा दिल दे न सका। क्योंकि उनकी राजनीति उसे बिल्कुल ही नर्म मालूम होती थी। उसने शुरू में ही यह निश्चय कर लिया कि राजनैतिक क्षेत्र में उसे किसी भी पक्ष में शामिल नहीं होना है। वह अपने आप से कहने लगा "मैं सभी से मिलता-जुलता रहूंगा, जिसमें स्वीकारने योग्य कुछ मिले उसका स्वीकार ही कर लूंगा।

पर किसी के साथ बह नहीं जाऊंगा।"

विचारों के क्षेत्र में तो उसे इससे भी बड़े मनोमंथन से गुजरना पड़ा। उसकी जिज्ञासा बड़ी तीव्र थी। पढ़ाई के और पढ़ाई के बाहर के भी कई विषयों में उसे दिलचस्पी थी। उसने अपने आसपास कई तरह की पुस्तकें इकट्ठी कर रखी थीं। और उम्र के हिसाब से उसका वाचन भी विशाल था। इंटर आर्ट्स में उसने लॉजिक (तर्क शास्त्र) विषय लिया था। फलस्वरूप, दर्शन शास्त्र के अलग-अलग क्षेत्रों का उसका परिचय बढ़ा। इसमें ज्यों-ज्यों वह गहरा उतरने लगा त्यों-त्यों दुनिया में जितनी भी विचार प्रणालियां हैं जीवन की ओर देखने की जितनी भी दृष्टियां हैं, उन्हें जानने की और समझ लेने की उसकी उत्कंठा प्रबल होती गयी।

इसी समय वह रंग्लर परांजपे के प्रभाव में आया। परांजपेजी फर्ग्युसन के प्रिंसिपल थे। उनके दो प्रिय विषय थे। एक था, गणित और दूसरा, बुद्धिवाद। गणित जितने उत्साह के साथ पढ़ाते थे, उसने दुगुने उत्साह से वे बुद्धिवाद का प्रचार करते थे। वे ईश्वर को नहीं मानते थे। रहस्यवाद मिस्टिसिस्स को भ्रम कहते थे। और सारे धर्मानुभवों को वहम् या ढकोसले कह कर फेंक देते थे। बड़े आग्रह के साथ कहते थे कि जो चीज बुद्धि की कसौटी पर खरी न उतरे, वह चाहे किसी ने भी कही हो, उसका इन्कार करने में बुद्धि की ईमानदारी है। उनके प्रभाव में आ कर युवक दत्तात्रेय ने "ब्रेडलॉ" इंगलसोल, स्पेंसर, मिल, मोर्ली आदि बुद्धिवादी चिंतकों की पुस्तकें पढ़ डालीं और धीरे-धीरे वह अनीश्वरवादी बनता गया। बचपन के सनातनी वायुमंडल के उसके कर्मकांडी संस्कार कारवार में ही छूट गये थे। संध्या पूजा, कर्मकांड, तपश्चर्या, देह दंड आदि को वह पहले धर्म समझता था। कारवार में उसे मालूम हुआ कि धर्म की नींव में ईमानदारी, सच्चाई, सदाचार, ज्ञान निष्ठा, परोपकार, लोकसेवा, स्वार्थत्याग, आत्मबलिदान ऐसे नैतिक तत्व होते हैं। पर, इन तत्वों के साथ उसने ईश्वरनिष्ठा और चित्त शुद्धि इन दो तत्वों को भी जोड़ दिया था। अब बुद्धिवाद के प्रभाव में सबसे पहले उसकी ईश्वर विषयक श्रद्धा ही खतरे में आ पड़ी। वह ईश्वर का इन्कार करने लगा। प्रार्थना करना उसने छोड़ दिया। चोटी और जनेऊ को छुट्टी दे दी। हर चीज को वह अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर देखने लगा। बुद्धि के निर्णय को ही जीवनसर्वस्व मानने लगा।

उसके दो साल इसी बुद्धिवाद के बुखार में गुजरे। उसे "बुखार" इसलिए कहना चाहिए क्योंकि सत्य की खोज में जो बौद्धिक नम्रता होनी चाहिए, वह उन दिनों उसमें नहीं थी।

एक दिन उसने बुद्धि की कसौटी पर अपने बुद्धिवाद को भी कस कर देखा।

और अचानक उसे प्रतीत हुआ कि यह भी एक तरह का श्रद्धा का ही मार्ग है। यह ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखता। पर, बुद्धि में रखता है। बुद्धि हमें सत्य की ओर ले जायेगी, यह श्रद्धा इसकी जड़ में है ? पर, बुद्धि तो मनुष्य की उम्र के साथ बाल, युवा और जरा होती है। अपरिपक्व बुद्धि को जो ज्ञान होता है, वह एक प्रकार का होता है। और पक्वबुद्धि को जो होता है वह दूसरे प्रकार का होता है। बुढ़ापे में जब बुद्धि जरा जीर्ण हो जाती है, तब का ज्ञान क्या जरा जीर्ण नहीं होगा ? ज्ञान प्राप्ति के साधन के रूप में वह जिसे 'सब कुछ' मानता था वह बुद्धि ही अपने में सब कुछ नहीं है, अपूर्ण है इस बात का जब उसे ज्ञान हुआ, तब बुद्धिवाद का उसका बुखार उतर गया। और वह अज्ञेयवादी बना।

उसी समय उसके हाथ में महादेव गोविंद रानडे की एक पुस्तक पड़ी, जिसमें उनके धार्मिक प्रवचन संग्रहीत किए गए थे। भौतिक सत्य और नैतिक सत्य के बीच के भेद का उनका विवेचन पढ़ा। तब दत्तात्रेय के सामने एक नयी सृष्टि खुल गयी। और उसकी नास्तिकता धीरे-धीरे पिघलने लगी। उन्हीं दिनों उसने प्रार्थना समाज के रामकृष्ण गोपाल भांडारकर का एक प्रवचन सुना और वह संतों के भक्ति मार्ग का रहस्य पहले से अच्छी तरह समझने लगा। उसने यह महसूस किया कि संतों का उपदेश स्वर्गप्राप्ति के लिए नहीं है। बल्कि इहलोक में ही जीवन उन्नत करने की प्रेरणा के लिए है। जीवन में आध्यात्मिकता बढ़ाने की भूख उसे कारवार में लगी थी। वह यहां फिर से जाग्रत हुई और दिन-ब-दिन तीव्र बनती गयी।

ठीक उसी समय उसके हाथ में स्वामी विवेकानंद की पुस्तकें पड़ी और उसके जीवन ने एक नया ही मोड़ लिया।

सबसे पहले उसे यह प्रतीत हुआ कि विवेकानंद अन्य संन्यासियों की तरह केवल अध्यात्म की बातें करने वाले सन्यासी नहीं हैं। बल्कि अध्यात्म के साथ तेजस्वी पुरुषार्थ, राजनैतिक अस्मिता, भौतिक ज्ञानोपासना और सामाजिक सुधारों को जोड़कर उनका समर्थन करने वाले एक देशभक्त भी है। विवेकानंद के पहले किसी ने आध्यात्मिकता और देश भक्ति को साथ में जोड़ा नहीं था। वे ही पहले हैं, जिन्होंने इन दोनों मार्गों का समन्वय कर दिखाया है। वे अन्य संतों के जैसे केवल संत नहीं, बल्कि देश भक्त भी हैं; और अन्य देशभक्तों के जैसे केवल देशभक्त नहीं, संत भी हैं। उनका हिंदू धर्म रोटी-बेटी व्यवहार की मर्यादाओं में फंसा हुआ और असंख्य जातियों की ऊंच नीचता की श्रेणी को ही धर्मसर्वस्व मानने वाला धर्म नहीं है। इस हिंदू धर्म को तो वे 'चुल्ली का धर्म' (किचन रेलिजन) कहते हैं। और उसकी प्रखर आलोचना

भी करते हैं। विवेकानंद का हिंदू धर्म स्मृतियों का नहीं है, बल्कि श्रुतियों का है। ईश्वर भक्ति, सदाचार, सेवा वृत्ति, मानवता, निर्भयता, तेजस्विता, उदारता आदि गुणों के समुच्चय को ही विवेकानंद ने हिंदू-धर्म कहा है। सब से बड़ी बात जो उसके ध्यान में आयी वह यह थी कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो आत्मबलिदान कर सकता है। क्योंकि मनुष्य केवल शरीर नहीं है। उसके शरीर में एक ऐसा अशरीरी तत्व है, जो मनुष्य को सारी दुनिया के विरुद्ध में खड़े रहने की ताकत प्रदान करता है। इसी तत्व को आत्मतत्व कहते हैं। यही मनुष्य में रहा हुआ ईश्वरी तत्व है। उसको जाग्रत करना, उसका साक्षात्कार करना, यही मनुष्य का सर्वोच्च ध्येय है।

विवेकानंद ने युवक दत्तात्रेय को अपने हृदय के अंदर अखंड विराजमान आत्मा की ओर अभिमुख किया। उनकी चैतन्यमय वाणी से उसमें एक नयी श्रद्धा का उदय हुआ। और वह आत्मनिष्ठ, ईश्वरनिष्ठ इससे भी बढ़कर जीवननिष्ठ बना। विवेकानंद की लगभग सभी उपलब्ध रचनायें उसने पढ़ डालीं। और वह उनका भक्त बना। "काश! विवेकानंद आज होते। मैं अपना संपूर्ण जीवन उनके चरणों में समर्पित कर देता।" इस तरह के भाव भी उसके मन में उठे थे। भारतीय संस्कृति के संबंध में दत्तात्रेय के दिल में पहले से ही श्रद्धाभाव था। पर भारतीय संस्कृति जगत को एक नया रास्ता दिखा सकती है, यह उसने पहले पहल विवेकानंद में ही पाया। वह भारत का इतिहास, उसका साहित्य, उसका समाज-शास्त्र सब कुछ समझने की कोशिश में लग गया।

क्रांतिकारिता की दीक्षा

फर्ग्युसन में युवक दत्तात्रेय ने जो पहले दो साल बिताये, इस तरह के मनोमंथन में बिताए। इस मनोमंथन के कारण उसके आंतरिक जीवन में बड़ी तीव्र गति से प्रगति भी की। पर अपने जीवन प्रभाव को कोई निश्चित दिशा वह दे न पाया था। ठीक इसी समय 'देश के लिए मर मिटने' की हवायें उसके चारों ओर बहने लगीं।

यह सन् 1905 की बात है। लार्ड कर्जन उन दिनों वायसरॉय के पद पर विराजमान् हुए थे। सत्ता हाथ में आते ही उन्होंने एकाएक बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी। इस घोषणा ने देश में आग प्रज्जवलित कर दी। विभाजन के विरुद्ध तुरंत एक जोरदार आंदोलन शुरू हुआ। यह आंदोलन शुरू में केवल बंगाली आंदोलन था। पर, थोड़े ही दिनों में वह समूचे देश का आंदोलन बन गया। फलस्वरूप चारों ओर त्याग और बलिदान की भाषा सुनाई देने लगी। और अंग्रेजों से बदला लेने के लिए जगह-जगह गुप्त षड्यंत्रवादी दल

खड़े हुए।

महाराष्ट्र में गुप्त षड्यंत्रवादी दल तो वासुदेव बलवंत फड़के के जमाने से मौजूद थे। इन दिनों पूना में इसी परंपरा का और एक दल कार्यरत हो गया था, जिसके नेता विनायक दामोदर सावरकर नामक एक युवक थे। युवक दत्तात्रेय का सावरकर से घनिष्ठ परिचय था। क्योंकि दोनों फर्ग्युसन कॉलेज के विद्यार्थी थे। और दोनों के विचारों में काफी साम्य था। दोनों तिलक के भक्त थे। साथ-साथ सुधारवादी आगरकर के भी अनुयायी थे।

दत्ताज्ञेय की इन दिनों और एक तेजस्वी नौजवान से दोस्ती हुई, जिसका नाम जीवतराम कृपालानी था। यह भी फर्ग्युसन का ही विद्यार्थी था। सिंध से आया था।

1905 के अक्तूबर में पूना में विदेशी कपड़ों की एक बड़ी होली सुलगायी गयी। देश में सुलगायी गयी यही पहली होली थी। इसके समारोह की अध्यक्षता लोकमान्य तिलक ने की थी। और होली सुलगाने का सन्मान दत्तात्रेय के मित्र सावरकर को मिला था। दत्तात्रेय और जीवतराम दोनों ने इस कार्यक्रम में उत्साह के साथ हिस्सा लिया। दोनों ने घर-घर जाकर विदेशी कपड़े जुटा कर लाने का काम किया। यही नहीं, रास्ते से गुजरने वाले लोगों के सिर पर की टोपियां छीन कर लाने का काम भी किया। जीवतराम को ऐसी शरारतों में बड़ा मजा आता था। इससे थोड़े ही दिनों में दोनों पूना में काफी प्रख्यात हो चुके थे। होली का समारोह सम्पन्न हुआ। फिर भी दोनों रास्ते पर दिखाई देते सब लोग उनसे डरते और सिर की टोपी उतार कर कोट के अंदर छिपा लेते थे।

होली तो बहिष्कार का एक दृष्टरूप था। और बहिष्कार के साथ नेताओं ने स्वदेशी को जोड़ दिया था। शुरू-शुरू में दत्तात्रेय स्वदेशी की ओर अंग्रेजों को नुकसान पहुंचाने का एक प्रभावी हथियार के रूप में ही देखता था। पर, ज्यों ही वह इस आंदोलन में गहरा उतरता गया, स्वदेशी के सांस्कृतिक पहलू भी धीरे-धीरे उसके सामने प्रकट होते गये। वह भाषा, साहित्य, रस्म रिवाज, उत्सव-त्यौहार, उद्योग-हुनर जीवन के सभी अंगों की ओर सांस्कृतिक स्वदेशी की दृष्टि से देखने लगा। ठीक इसी समय उसके हाथों में आनंदकुमार स्वामी और भगिनी निवेदिता की पुस्तकें पड़ीं। इन पुस्तकों ने उसकी सांस्कृतिक स्वदेशी की दृष्टि को जीवन दृष्टि का रूप दिया।

1905 से 1907 के दो वर्ष दत्तात्रेय के जीवन में बड़ी उथल-पुथल के वर्ष रहे। एक ओर वह कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करता रहा, तो दूसरी ओर वह देशसेवा की दीक्षा भी लेता रहा।

अचानक एक दिन उसने सुना कि सरकार ने लाला लाजपत राय और सरदार

अजीत सिंह को गिरफ्तार करके छह साल के देश निकाले की सजा दी है। यह खबर सुनते ही दत्तात्रेय का खून खौलने लगा। उसे लगा सरकारी दमन की अब हद हो गयी है। अब हमें क्रांति का काम बिना विलंब शुरू कर देना होगा। सावरकर फर्ग्युसन के विद्यार्थी निवास में ही रहते थे। दत्तात्रेय ने उनसे काफी बातें की। और उनके दल में बाकायदा शामिल होने का निर्णय लिया। अपने इस निश्चय को दृढ़ करने के लिए उसने छह साल तक चीनी न खाने का व्रत भी लिया था। दल में शामिल होते ही उसने छत्रपति शिवाजी की तस्वीर के सामने शपथ ली : "मैं मातृभूमि की मुक्ति के लिए अपना जीवन अर्पित करता हूं।" शपथ के बाद वह तुरंत निशाना लगाने की तालीम लेने लगा। निशाना लगाने में देखते-देखते ही वह इतना प्रवीण हो गया कि दस निशाने लगाये हों तो नौ ठीक लगते। एकाध चूक जाता।

किन्तु वह इस दल में अधिक रह न सका। थोड़े ही दिनों में वह इस दल के संबंध में निराश हुआ। उसने देखा कि यह दल गुप्तता के संबंध में विशेष गंभीर नहीं है। इसे अंग्रेजों की शक्ति का कोई अंदाज भी नहीं है। न ही, भारतीय समाज की कमजोरियों का उसे ठीक ख्याल है। अंग्रेज अफसरों की हत्यायें करना इसके अलावा उसके पास कोई ठोस कार्यक्रम भी नहीं है।

वह समय पर सचेत हुआ। और इस दल से अलग हो गया। अलग होने से पहले वह सावरकर के पास गया और उनसे उसने कहा, "मुझे विश्वास नहीं है कि आपका दल क्रांति का कोई विशेष कार्य कर सकेगा। एक दो हत्यायें करने में वह अवश्य सफल होगा। पर उसके बाद तितर-बितर हो जायेगा। मैं नहीं मानता कि दो तो क्या, दस बीस या पांच पचास हत्याओं से अंग्रेज घबरा जायेंगे और देश छोड़ कर चले जायेंगे। अंग्रेज कायरों की औलाद नहीं है। वे प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर के भारत को पकड़ कर रखना चाहेंगे। छुटपुट हत्याओं से आप अधिक-से-अधिक देश में एक अंधा वायुमंडल ही पैदा कर सकेंगे। पर इस अंधे वायुमंडल का फायदा अधिक-से-अधिक अंग्रेज ही उठायेंगे। और भी कई कारण हैं, जिसकी वजह से मैं आपके साथ काम नहीं कर सकता। मैं दल से अलग होना चाहता हूं।"

सावरकर दुखी हुए। बोले, 'बड़े अफसोस की बात है।' पर दल से अलग होने से पहले दत्तात्रेय ने सावरकर को वचन दिया, "मैंने शिवाजी महाराज की तस्वीर के सामने गुप्तता की शपथ ली थी। मैं आपको इतना आश्वासन देना चाहता हूं कि मैं इस शपथ का जिंदगी भर पालन करूंगा। आपको कभी धोखा नहीं दूंगा। आपके कार्य में बाधा पहुंचे ऐसा कोई काम मैं नहीं करूंगा।"

सावरकर ने इतना ही जवाब दिया, "मुझे बड़ा दुख है। पर मैं आपको रोकना

नहीं चाहता।"

पूना में उन दिनों और एक क्रांतिकारी दल था, जो अधिक जिम्मेदारी के साथ काम करता था। सावरकर से अलग होते ही दत्तात्रेय इस दल में शामिल हुआ। इस दल के साथ उसका 1912 तक बराबर संबंध बना रहा।

क्रांति के लिए दत्तात्रेय ने अपना जीवन समर्पित किया तो था। पर वह जानता था कि क्रांति का जाप करने से क्रांति नहीं होती। क्रांति की पूर्व तैयारी के लिए दूसरा कोई ठोस रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लेना आवश्यक है। वह इस कार्यक्रम की खोज में था। ठीक इसी समय स्वामी विवेकानंद का एक निजी पत्र उसे पढ़ने को मिला। उसमें स्वामी जी ने लिखा था "देश उद्धार के बारे में मैंने कई बार कई तरह से सोचा। हर बार मुझे एक ही जवाब मिलता रहा कि शिक्षा ही इसका एक मात्र मार्ग है।" यह पत्र पढ़ते ही दत्तात्रेय की सारी दुविधायें दूर हो गयीं। उसका जीवन कार्य उसके सामने स्पष्ट हुआ।

उन दिनों बाबू अरविंद घोष उसके आराध्य बन गये थे। उनका 'वन्दे मातरम्' पत्र वह नियमित रूप से पढ़ता आया था। और उनके राजनैतिक तथा आध्यात्मिक तेज से ओतप्रोत लेखों पर वह मोहित था। अरविंद बाबू के जीवन में क्रांतिकार्य के लिए इतना ही शिक्षा कार्य के लिए स्थान था। बड़ौदा की बड़ी नौकरी छोड़कर वे शिक्षा कार्य करने के लिए ही कलकत्ता चले गये थे। इधर लोकमान्य भी इस कार्य का महत्व बराबर समझाते आए थे। इन सब कारणों से दत्तात्रेय का क्रांतिकार्य के लिए ही शिक्षा कार्य को जीवन समर्पित करने का निश्चय दृढ़ हुआ। अंतिम निर्णय लेने के लिए वह लोकमान्य के पास गया और उनसे कहा "मैं शिक्षा कार्य को अपना जीवन समर्पित करना चाहता हूं। मैं इसके दो तरीके जानता हूं। एक है अध्यापन का और दूसरा, पत्रकारिता का। अध्यापन का मुझे थोड़ा सही, पर अनुभव है। पत्रकारिता का नहीं है। क्या आप मुझे इसकी तालीम देंगे?"

लोकमान्य ने जवाब दिया, "अवश्य। दोनों तरीके साथ चलाते रहो।"

लोकमान्य ने एक चिट्ठी लिखकर उसे नरसिंह चिंतामण केलकर के पास भेज दिया। केलकरजी उन दिनों लोकमान्य के अंग्रेजी अखबार 'मराठा' के संपादक मंडल के प्रमुख थे। उन्होंने दत्तात्रेय को अपने साथी के रूप में मराठा में ले लिया। दो एक महीने उसने वहां काम किया होगा। इतने में घर से चिट्ठी आयी, "मां बीमार है। जल्दी चले जाओ।"

(लोकमान्य ने अपनी चिठ्ठी में दत्तात्रेय का जिक्र दत्तोपंत कालेलकर के रूप में किया था। काकासाहब 'काकासाहब' बने तब तक महाराष्ट्र में दत्तोपंत कालेलकर के नाम से ही पहचाने जाते थे।")

2. राष्ट्रसेवा की दीक्षा

गंगाधरराव के संपर्क में

मां के साथ आठ दस दिन रह कर लौटने के इरादे से दत्तोपंत छुट्टी लेकर शाहपुर गये थे। पर वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि मां क्षय जैसे असाध्य रोग से पीड़ित है। आठ दस दिन तो क्या, आठ दस महीनों के बाद भी पूना लौट सकेंगे या नहीं, इसका कोई भरोसा नहीं है। दत्तोपंत के सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं था। उन्होंने 'मराठा' का काम छोड़ दिया और शाहपुर में रह कर मां की सेवा सुश्रुषा करते रहने का निश्चय किया।

शाहपुर से बेलगांव बहुत नजदीक है। वहां गंगाधरराव देशपांडे लोक-जागृति के कई काम हाथ में लेकर बैठे थे। राष्ट्रवादी जगत में उनकी लोकमान्य के दाहिने हाथ के रूप में ख्याति थी। उनकी दृष्टि दत्तोपंत पर पड़ी। ऐसे कोई बुद्धिमान और निश्चयी स्वभाव के नौजवान दिखाई दें तो उन्हें 'पकड़ कर' किसी-न-किसी काम में लगा देना उनका स्वभाव था। उन्होंने दत्तोपंत से पूछा "यहां गणेश विद्यालय नामक एक राष्ट्रीय शाला शुरू हुई है। उसके लिए संचालक एक अच्छे राष्ट्रीय स्वभाव वाले हैडमास्टर की तलाश में हैं। क्या वहां काम करना पसंद करोगे ?"

दत्तोपंत ने हां कह दिया। और दूसरे दिन से वे महीने आठ रुपये के वेतन पर गणेश विद्यालय में काम करने लग गये। बी० ए० पास एक होशियार नौजवान जो आसानी से महीने में तीन सौ, चार सौ रुपये कमा सकता है वह केवल आठ रुपयों का वेतन लेकर कहीं काम करे, यह आश्चर्य की बात थी। बेलगांव में काफी दिनों तक यह चर्चा का एक विषय रहा। मां की सेवा-सुश्रुषा और गणेश विद्यालय में अध्यापन कार्य इन दो कामों के अलावा दत्तोपंत ने यहां और एक काम हाथ में लिया। नागेशराव गुणाजी नामक आध्यात्मिक वृत्ति के एक वकील से उनका यहां परिचय हुआ था। उनके साथ बैठकर उन्होंने

स्वामी रामतीर्थ की रचनाओं का मराठी में अनुवाद कर डाला। रामतीर्थ साहित्य के परिशीलन का एक परिणाम यह हुआ कि दत्तोपंत के मन में उसने हिमालय के प्रति एक असाधारण आकर्षण पैदा किया। किसी-न-किसी दिन पूरा हिमालय घूमकर देखना चाहिए, इस प्रकार की एक उत्कट इच्छा उनके मन में जाग्रत हुई।

गंगाधरराव उनकी ओर हमेशा वात्सल्यभाव से देखते आए थे। वे कभी-कभी उन्हें किसी उत्सव में भाषण देने के लिए बुलाते। एक बार दत्तोपंत ने 'शंकराचार्य का राष्ट्र-संगठन और कार्य' विषय पर भाषण दिया और दूसरी बार 'स्वामी विवेकानंद का युगकार्य' इस विषय पर दिया। दोनों भाषण सुन कर गंगाधरराव काफी प्रभावित हुए। उन्होंने अपने साथी गोविंद राव यालगी से कहा "तुम देखोगे, यह नौजवान भविष्य में एक बड़े विद्वान् के रूप में देश के सामने आयेगा।"

दत्तोपंत ने लगभग छह महीने बेलगांव में बिताये। एक दिन अचानक मां की सेहत लुढ़क गयी और 18 जून 1908 के दिन मां ने दुनिया से विदा ली। अब बेलगांव में रहने का दत्तोपंत के लिए कोई प्रयोजन नहीं रहा था। इधर, गणेश विद्यालय के संचालकों के जीर्ण परंपरावादी और संकुचित राष्ट्रवादी विचारों से भी वे उकता गये थे। इसलिए मां की मृत्यु के बाद गंगाधरराव से चर्चा कर के उनकी सम्मति से उन्होंने विद्यालय का काम छोड़ दिया और वे बम्बई चले गये। यही सोच कर गये थे कि जब तक नया कोई काम हाथ में नहीं आता, एल० एल० बी० कर लेंगे। पिताजी की यह इच्छा थी। और उन्हें पिताजी को संतोष देना था।

पर, बंबई पहुंचते ही समाचार मिला कि लोकमान्य गिरफ्तार कर लिये गये हैं। बस, समाचार फैलते ही देश का वायुमंडल एकाएक गर्म हो गया। ऐसे वायुमंडल से देश का कोई भी राष्ट्रवादी खामोश रह नहीं सकता था। कानून का अध्ययन करना दत्तोपंत के लिए अब कठिन हो गया। लोकमान्य के विरुद्ध बंबई हाईकोर्ट में जो मुकदमा चला, उसमें लोकमान्य ने अपनी पैरवी खुद ही की थी। बचाव का उनका भाषण लगातार छह दिन चला था। यह भाषण सुनने के लिए जो अनेक देशभक्त न्यायालय में उपस्थित थे, उनमें दत्तोपंत भी एक थे। इन छह दिनों में बंबई के मिल-मजदूरों ने हड़ताल जाहिर की थी। और हड़ताल के दरमियान मजदूरों ने इधर-उधर ऊधम मचाया था। तब, इन मजदूरों के बीच जाकर उन्हें ऊधम मचाने के लिए प्रोत्साहित करने का काम जिन नौजवानों ने बड़ी लगन के साथ किया, उनमें भी दत्तोपंत एक थे। इतना ही नहीं घायल मजदूरों की जख्मों को पट्टी बांधने के लिए जब कपड़ा न

मिला, तब उन्होंने अपनी धोती फाड़ कर पट्टी बांध दी। मजदूरों की मदद के लिए निधि इकट्ठा करने का काम शुरू हुआ, तब उन्होंने पिताजी से भेंट में मिली हुई अपनी सुरीली सितार बेच डाली और जो पैसे मिले निधि में जमा कर दिए।

आसपास के वायुमंडल के साथ दत्तोपंत एकरूप हो गये थे। लोकमान्य को जिस दिन छह साल की कारावास की सजा फर्मायी गयी उस दिन भी दत्तोपंत न्यायालय में उपस्थित थे। न्यायालय का फैसला सुनकर उनका खून खौलने लगा था। यही नहीं, "काश ! मेरे हाथ में इस वक्त बम होता ! मैं न्यायाधीश पर वह फेंक देता।" इस हद तक उन्हें गुस्सा भी आया था। दूसरे ही क्षण लोकमान्य की धीर गंभीर आवाज उनके कानों पर पड़ी।

"इस फैसले के बावजूद मैं अपने को अभी भी निर्दोष समझता हूं। दुनिया में इस न्यायालय से भी श्रेष्ठ शक्तियां काम करती हैं। जिस कार्य का मैं प्रतिनिधित्व करता हूं, वह मेरे मुक्त रहने से मेरे कारावास के कष्टों से अधिक पनपे, अधिक फूले-फले यही संभवतः नियति की इच्छा है।"

यह सुनते ही दत्तोपंत ने जब लोकमान्य की ओर देखा उन्हें वे मानो योगारूढ़ स्थिति में एक अवतार पुरुष से मालूम हुए। लोकमान्य की वह तेजस्वी मूर्ति कई वर्षों तक उनके आंखों के सामने तैरती रही। उनकी वह धीर गंभीर आवाज भी कई वर्षों तक कानों में गूंजती रही।

लोकमान्य गिरफ्तार कर लिए गये थे, उसके पांचवे दिन बंबई में एक मराठी दैनिक शुरू हुआ, जिसका नाम 'राष्ट्रमत' था। राष्ट्रवादी पक्ष का यह पहला ही मराठी दैनिक था और स्वयं लोकमान्य इसके जनक थे। पहले ही अंक के साथ वह खूब लोकप्रिय हुआ था। महाराष्ट्र के दूर-दूर के देहातों तक वह पहुंच गया था।

दो एक महीने बीते होंगे, दत्तोपंत ने एक लेख लिख कर 'राष्ट्रमत' को भेजा। दूसरे दिन वह प्रकाशित होना चाहिए था। पर, प्रकाशित नहीं हो सका। तीसरे और चौथे दिन भी प्रकाशित नहीं हुआ। दत्तोपंत बड़े ही दुःखी हुए। पर पांचवे दिन जब अंक खोल कर देखा तो उसका लेख संपादकीय स्तंभ में छपा हुआ उन्हें दिखाई दिया। लेख को काफी प्रतिष्ठा दी गयी थी।

उसी दिन राष्ट्रमत की ओर से उन्हें गंगाधरराव देशपांडे जी का बुलावा आया। गंगाधररावजी ने राष्ट्रमत अपने हाथ में लिया है और इस बहाने उन्होंने यहां राष्ट्रसेवकों का एक खासा अड्डा जमा दिया है, इसका ख्याल दत्तोपंत को नहीं था। बुलावा आते ही वे गंगाधररावजी से मिलने राष्ट्रमत में गये।

'तुम यहाँ कहां रहते हो' गंगाधररावजी ने पूछा।

'यहीं नजदीक में।'

'और क्या करते हो।'

'खास कुछ नहीं। पर एल० एल० बी० करता हूं।'

"वह तो तुम यहां मेरे पास रह कर भी कर सकते हो। तुम यहां चले आओ और मेरे पास ही रहो। यहां महाराष्ट्र के कई अच्छे-अच्छे तेजस्वी नौजवान इकट्ठा हुए हैं। उनसे तुम्हारा परिचय करा दूंगा।"

गंगाधररावजी की इच्छा दत्तोपंत के लिए मानो आज्ञा थी। उसी शाम वे बिस्तर-बोरा लेकर राष्ट्रमत में शरीक हो गये।

राष्ट्रमत में

राष्ट्रमत का वायुमंडल दत्तोपंत को बहुत पसंद आया। महाराष्ट्र के लगभग सभी हिस्सों के नौजवान देशभक्त यहां एकदिल होकर काम में लग गये थे। वामनराव जोशी, दत्तोपंत आपटे, हरिभाऊ फाटक, गोपालराव गोखले जैसे कई तेजस्वी नौजवानों को गंगाधररावजी ने इधर-उधर से पकड़ कर यहां ला रखा था। सभी एक ही मकान में रहते थे। भोजन भी एक साथ करते थे। आपस में काम बांट कर सभी सारा दिन काम में व्यस्त रहते थे। वेतन का कोई नाम तक नहीं लेता था। जेब खर्च के लिए गंगाधररावजी जो महीना पांच रुपये देते थे, उसमें सभी एक-दूसरे में इतने ओतप्रोत होकर रहते थे कि एक दिन एक बंगाली क्रांतिकारी सज्जन ने राष्ट्रमत की प्रशंसा करते हुए उसे 'राष्ट्रमठ' नाम रख दिया था।

दत्तोपंत यहां पहुंचते ही सब के साथ ओतप्रोत हो गये।

गंगाधररावजी स्वभाव से ही नेता थे। शाम के समय वे सबको अपने कमरे में बुला लेते और तरह-तरह के विषयों को लेकर बहस चलाते। राष्ट्रमत की नीति क्या हो, यह बहस कर के ही उन्होंने निर्धारित की थी। राष्ट्रमत ने अपने सामने अरविंद बाबू के 'वंदे मातरम्' का आदर्श रखा था। यह भी बहस के बाद ही तय कर लिया गया था। सामाजिक विषयों में हमें प्रगतिशील रहना चाहिए, सरकार की केवल आलोचना करना पर्याप्त नहीं है, सामाजिक कमजोरियों को भी दूर करना आवश्यक है, यह निर्णय भी बहस के बाद ही सामूहिक रूप से लिया गया था।

यहां विचारों का आदान-प्रदान लगातार चलता रहता था। बंबई के बाहर के राष्ट्रवादी नेता जब बंबई आते थे तब वे राष्ट्रमत में गंगाधरराव जी के पास ही ठहरते थे। महाराष्ट्र के गुप्त षड्यंत्रवादी क्रांतिकारियों से भी गंगाधर-रावजी का संबंध था। अतः वे भी यहां आते और गंगाधररावजी से चर्चा

करते । राष्ट्रमत, बल्कि 'राष्ट्रमठ' बंबई में राष्ट्रीय पक्ष का मानो एक केन्द्र बन गया था । सचमुच में राष्ट्रमठ बन गया था ।

दत्तोपंत को गंगाधररावजी ने अपने कमरे में ही स्थान दिया था । जब प्रेस में कुछ काम नहीं होता था, तब दत्तोपंत कमरे में बैठ कर लिखते पढ़ते रहते थे । गंगाधररावजी का उन पर इतना विश्वास था कि जब कोई गुप्त षड्यंत्र-वादी विचार विनिमय के लिए उनके पास आता और दत्तोपंत कमरे के बाहर चले जाते तब वे उनसे कहते "नहीं, तुम्हें बाहर जाना नहीं है । मैंने तुम्हें अपने कमरे में रहने दिया है, इसका मतलब ही यह है कि तुम पर मेरा पूरा भरोसा है।" इससे दत्तोपंत को अनायास ही ऐसी कई बातें जानने को मिलती, जो आमतौर पर गुप्त मानी जाती हैं ।

यहां रहने के कारण उनका जिस प्रकार बड़े-बड़े नेताओं के साथ घनिष्ठ परिचय हुआ वैसे ही राष्ट्रवादी भारत के अंतःप्रवाहों से भी उनका परिचय बढ़ा ।

ऐसे वातावरण में अचानक एक दिन खबर आयी कि लंदन में मदनलाल धिंगरा नामक एक पंजाबी नौजवान ने सर कर्जन वायली नामक एक अंग्रेज की हत्या कर डाली है । इस घटना को छह महीने भी नहीं हुए थे, नासिक में कलेक्टर जेकसन की हत्या हुई । यही माना गया कि इन दोनों हत्याओं में सावरकर का हाथ है । फलस्वरूप,' सावरकर से संबंधित लोगों की गिरफ्तारी का सिलसिला जोर शोर के साथ शुरू हुआ । स्वयं सावरकर भी, जो उन दिनों लंदन में थे, गिरफ्तार कर लिये गये ।

राष्ट्रमत का इन हत्याओं से कोई सीधा संबंध नहीं था । पर, गिरफ्तार हुए लोगों में से कईयों के साथ गंगाधररावजी और दत्तोपंत दोनों का घनिष्ट संबंध था । इनके संबंध में दोनों अलिप्त रह ही नहीं सकते थे । इन नौजवान देश-भक्तों के बचाव के लिए कुछ-न-कुछ करना अपना परम कर्तव्य है, ऐसा समझ कर गंगाधररावजी उनके बचाव की तैयारी में लग गये। और दत्तोपंत लगन के साथ उनकी मदद करते रहे ।

हत्याओं के बहाने जो लोग गिरफ्तार कर लिए गये थे उनमें से अनंत कान्हेरे, कृष्णाजी कर्वे और विनायक देशपांडे को फांसी की सजायें दी गयीं । सावरकर अंदमान के कारावास में बंद कर दिए गये । दूसरों को भी तरह-तरह की सजायें हुईं । इन नौजवानों के बचाव के काम में 'राष्ट्रमत' ने महत्व की भूमिका अदा की थी । बचाव के सबूत इकट्ठा करने में गंगाधरराव और दत्तोपंत दोनों काफी व्यस्त रहे थे । इस बीच सावरकर ने अपनी 'ने मजसी ने परत मातृ-भूमिला; सागरा, प्राणतरमला' । (सागर, मेरे प्राण तड़प रहे हैं, मुझे वापस

अपनी मातृभूमि की ओर ले चल) यह विलापिका दत्तोपंत के पास भेज दी। और दत्तोपंत ने वह गंगाधररावजी की अनुमति से 'राष्ट्रमत' में प्रकाशित की। फिर, इन क्रांतिकारी नौजवानों के लिए निधि इकट्ठा करने की एक योजना बनायी गयी। उसकी अपील भी राष्ट्रमत में प्रकाशित की। नतीजा, जो होना था, वही हुआ। सरकार ने राष्ट्रमत से दो हजार रुपयों की जमानत मांगी। दो हजार आसानी से दिए जा सकते थे। राष्ट्रमत में इस संबंध में अपील छाप देते तो दूसरे ही दिन दो तो क्या, बीस हजार भी इकट्ठा हो जाते। पर जमानत देने के बाद राष्ट्रमत को अपना सुर बदलना पड़ता। पूना के कई बुजुर्गों की, जो लोकमान्य के साथी माने जाते थे, यही राय थी कि राष्ट्रमत को भले ही अपना सुर सौम्य या नर्म करना पड़े, लोकमान्य का शुरू किया हुआ यह दैनिक किसी भी हालत में बंद होने नहीं देना चाहिए।

दत्तोपंत ने इस दलील का सख्त विरोध किया। बोले, "इस तरह राष्ट्रमत को जिंदा रखने के बजाय उसे मरने देने से ही हमारी अपनी प्रतिष्ठा है। हम अपना सुर नर्म या सौम्य करें इसमें हमारी बेइज्जती हैं।"

दत्तोपंत के सभी नौजवान साथी उनसे सहमत हुए। गंगाधरराव तो पहले से ही इसी राय के थे। फलस्वरूप 'राष्ट्रमत' बंद कर दिया गया। उसका अंतिम संपादकीय लेख दत्तोपंत ने ही लिखा। किसी की मृत्यु होती है तब उसे 'देवाज्ञा हुई' कहने की महाराष्ट्र में प्रथा है। उसके अनुकरण में एक नया शब्द बनाकर दत्तोपंत ने लिखा है कि 'राष्ट्रमत' को 'राजाज्ञा हुई', इसीलिए कल से वह पाठकों की सेवा में हाजिर नहीं रह सकेगा।

पुरुषार्थ का नया क्षेत्र

दत्तोपंत एल० एल० बी० करने बंबई आए थे। पर नियति उन्हें 'राष्ट्रमत' में ले गयी थी। और राष्ट्रमत में उन्हें राष्ट्रसेवा की दीक्षा मिली थी।

राष्ट्रमत एक तरह से राष्ट्र सेवकों की एक छावनी थी। गंगाधररावजी ने उसे विद्यालय का रूप दे दिया था। यहां रोज चर्चाएं हुआ करतीं, जिनमें राष्ट्रहित के और जीवन के कई पहलुओं की मीमांसा होती। गंगाधररावजी ने यहां एक छोटा-सा पुस्तकालय खड़ा कर दिया था, जिसमें चुनी हुई करीब दो हजार पुस्तकें थी। इस पुस्तकालय का सबसे अधिक लाभ दत्तोपंत ने ही उठाया था। चर्चाओं में भी उन्होंने ही सबसे अधिक हिस्सा लिया था। राष्ट्रमत से जो जो संलग्न हुए, काम करते-करते सीखे। आंतरिक जीवन में सभी समृद्ध होकर ही पुरुषार्थ के नये क्षेत्रों की खोज में अब वे एक दूसरे से अलग हुए थे।

अब आगे क्या करना है, इस विषय में दत्तोपंत अभी कुछ तय नहीं कर पाये

थे। ठीक इसी समय राष्ट्रमत के कार्यालय में एक सज्जन पधारे, जिन्हें देखते ही दत्तोपंत को लगा 'यह कोई भव्य पुरुष मालूम होता है।'

'सुना है, आपके यहां कालेलकर नामक एक युवक है।' आगंतुक ने गंगाधरराव जी से पूछा। दत्तोपंत बगल में ही खड़े थे। उनकी ओर अंगुली निर्देश करके गंगाधररावजी ने जवाब दिया, 'यही कालेलकर हैं।' और दत्तोपंत से कहा, 'आप बैरिस्टर केशवराव देशपांडे हैं।'

कोई प्रस्तावना किए बिना केशवरावजी ने दत्तोपंत से पूछा, "क्या आप बड़ौदा आकर हमारे यहां काम करना पसंद करेंगे? हम वहां गंगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय नामक एक राष्ट्रीय शाला चला रहे हैं।"

दत्तोपंत विचार करने के लिए एक क्षण भी न रुके। उन्होंने तुरंत जवाब दिया, "जी, आपके हाथ के नीचे काम करने का मौका मिलना मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं।"

दत्तोपंत ने उन्हें यह जो बिना हिचकिचाहट जवाब दिया, उसके तीन कारण थे। केशवरावजी और उनकी संस्था के बारे में उन्होंने गंगाधररावजी के ही मुंह से काफी कुछ सुना था। कुछ समय पहले उन्होंने यह सुना था कि केशवरावजी अपने विद्यालय के लिए एक अच्छे हेडमास्टर की खोज में हैं। और दत्तोपंत ने लेले नामक अपने एक मित्र को ललचा कर वहां भेजा था। पर लेले कच्चे साबित हुए थे। अपने बड़े भाई के दबाव में आकर वे यह काम छोड़कर चले गये थे। इससे दत्तोपंत को काफी दुख हुआ था। यह 'मेरा ही दोष है' यों समझकर क्षतिपूर्ति की दृष्टि से वे खुद वहां जाकर वह काम अपने हाथ में लेने की सोच रहे थे। पर चूंकि वे उतने ही महत्व के दूसरे काम में—राष्ट्रमत में व्यस्त थे, इसलिए नहीं जा सके थे।

दूसरा कारण यह था कि केशवरावजी को वे अरविंद बाबू के एक घनिष्ट मित्र के रूप में जानते थे, और अरविंद बाबू को दत्तोपंत एक क्रांतिकारी और एक आध्यात्मिक पुरुष के रूप में देश की सबसे बड़ी विभूति मानते थे। केशवरावजी का विश्वास संपादन करके कभी-न-कभी उनका पत्र लेकर अरविंद बाबू के पास जाने की इच्छा भी वे मन में रखते आए थे।

तीसरा कारण महत्व का था। दत्तोपंत के मन में महाराष्ट्र के प्रति नितांत भक्तिभाव था। इसलिए महाराष्ट्र के बारे में जब कोई बुरी बात कहता, तो उन्हें बहुत दुःख होता था। उन्होंने सुना था कि गुजरात बंगाल में महाराष्ट्र की प्रतिमा अच्छी नहीं है। यह प्रतिमा साफ करने के लिए किसी-न-किसी को गुजरात में जाकर गुजराती बनना चाहिए, बंगाल में जाकर बंगाली बनना चाहिए और देश के सामने 'भारतीत्व' की एक मिसाल पेश करनी चाहिए, इस

साइकिल के साथ

पत्नी, भाभी व दो बेटों के साथ

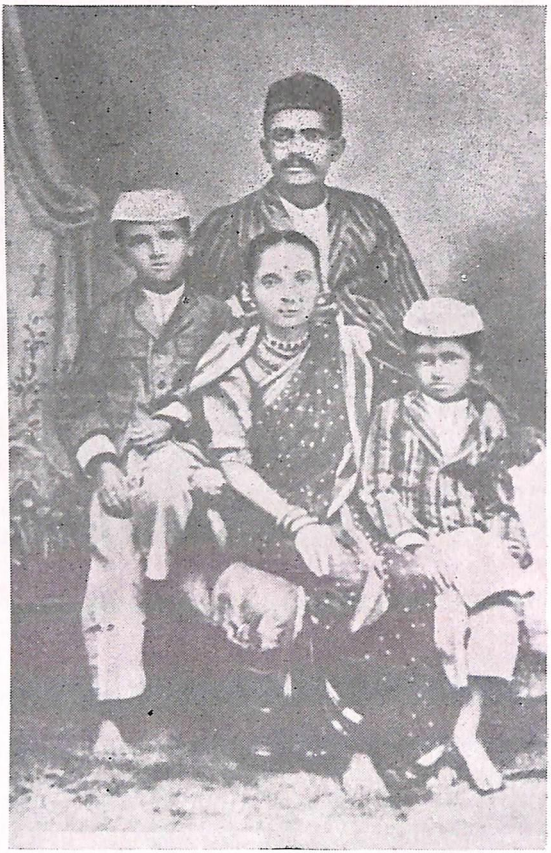

माताजी और भाइयों के साथ

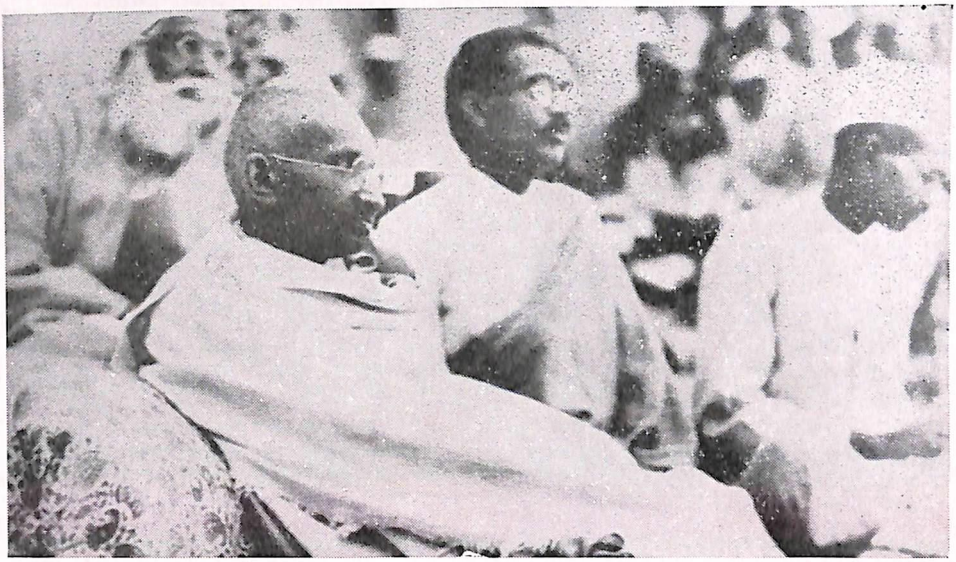

गुजरात विद्यापीठ में बापूजी के साथ

राधाकृष्णजी तथा राजेन्द्र प्रसाद जी के साथ

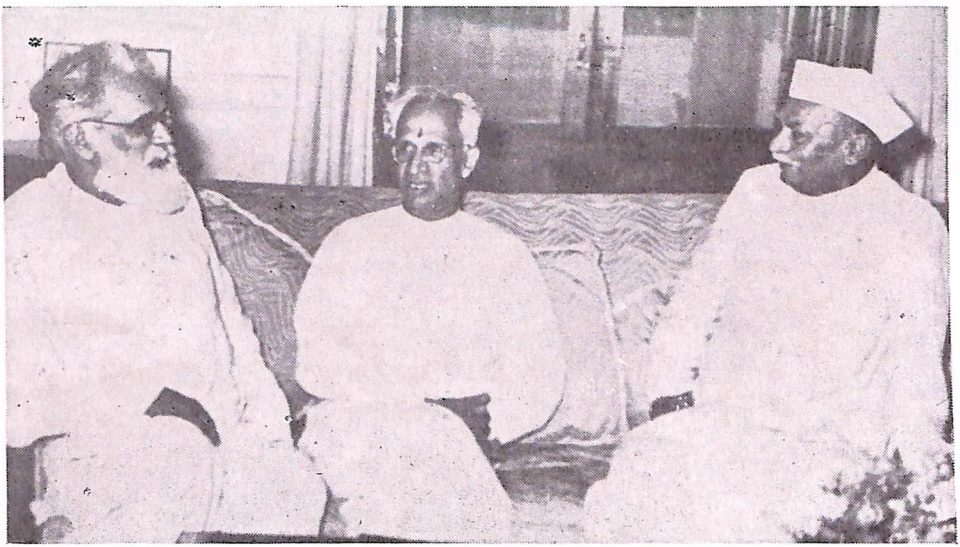

विनोबाजी के साथ

इन्दिराजी, सरोज बहन के सहारे चलते—काकासाहब

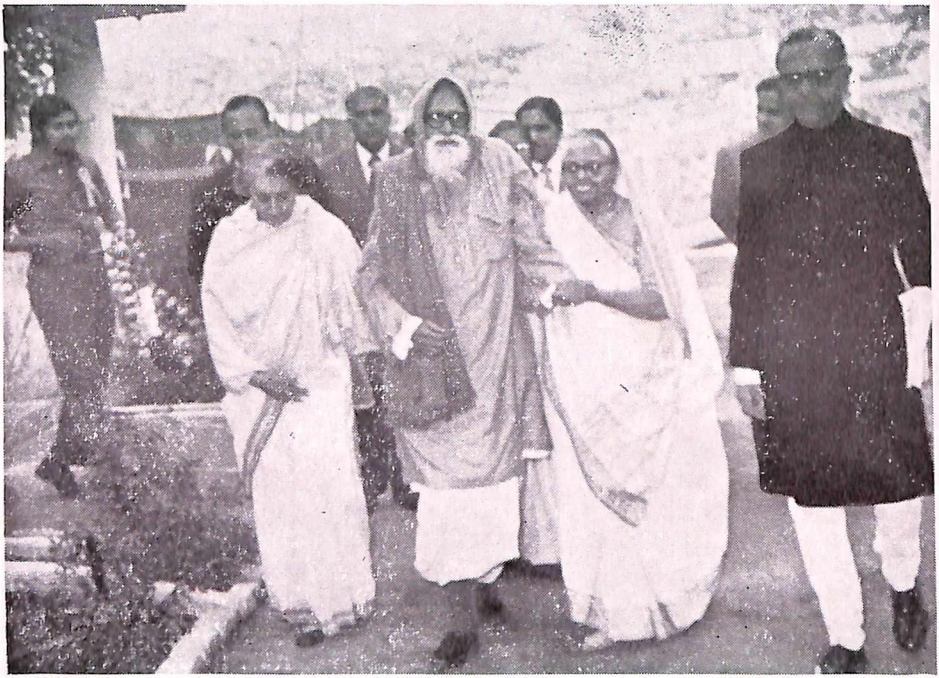

तरह की एक इच्छा का भी वे सेवन करते आए थे।

बिना कुछ कोशिश के ये तीनों इच्छायें पूर्ण होने का यह अवसर उनके सामने अपने आप चला आया था, इसलिए बिना हिचकिचाहट उन्होंने हां कह दिया था।

"आप कब बड़ौदा आ सकेंगे ?" केशवरावजी ने पूछा और दत्तोपंत ने जवाब दिया, "फिलहाल तो वहां गर्मियों की छुट्टियां हैं न ? छुट्टियां पूरी होने से पहले ही आ जाऊंगा।"

दत्तोपंत का बड़ौदा जाने का निर्णय सुनकर गंगाधररावजी निश्चित हुए।

गंगनाथ विद्यालय

बड़ौदा का यह गंगनाथ विद्यालय मामूली विद्यालय नहीं था। वह केवल विद्यालय भी नहीं था। वह असल में अरविंद बाबू की कल्पना का 'भवानी मंदिर' था। अरविंद बड़ौदा में थे, तब केशवरावजी उन्हीं की कोठी में रहते थे। दोनों देवी के उपासक थे। 'सप्तशती' का नियमित पाठ करते थे। 'सप्तशती' के सात सौ श्लोक हैं। हर श्लोक के प्रतिनिधि के रूप में एक-एक के हिसाब से सात सौ शाक्त सैनिकों का एक संगठन खड़ा करना, जो समय आने पर सारे देश में क्रांति की मशाल प्रज्ज्वलित कर सकेगा, इस उद्देश्य को लेकर दोनों ने एक योजना बनायी थी, जिसको उन्होंने 'भवानी मंदिर योजना' नाम दिया था। दोनों को बंकिम बाबू के 'आनंद मठ' उपन्यास से इसकी प्रेरणा मिली थी। अरविंद इस योजना की ओर एक 'दिव्य आदेश' के रूप में देखते थे। उन्होंने यह योजना पुस्तक के रूप में लिख भी डाली थी।

केशवराव अरविंद बाबू के दाहिने हाथ थे। बड़े कुशल संगठक थे। उन पर इस योजना की धुन सवार हुई। अरविंद के भाई बारीन्द्र कुमार घोष भी इसके पीछे लग गये। उसके लिए अनुकूल स्थान ढूंढते-ढूंढते वे नर्मदा के तट पर चांदोद नामक एक गांव में पहुंचे। और वहां गंगनाथ मठ के ब्रह्मानंद जी की मदद से उन्होंने चांदोद में 7 मई 1907 के दिन गंगनाथ विद्यालय की स्थापना की।

यह 'विद्यालय' तो भवानी मंदिर के असली चेहरे को छुपाने के लिए ओढ़ा हुआ आवश्यक नकाब ही था। उसका बाह्य स्वरूप विद्यालय के जैसा रहने वाला था। पर उसका अंदरूनी उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता के लिए जीवन समर्पित करने वाले क्रांतिकारियों का एक संघ खड़ा करना था।

पर इस बीच बंग भंग के कारण देश में जो आंदोलन चला उसमें अरविंद और वारीन्द्र दोनों गिरफ्तार हुए। भवानी मंदिर की योजना का भी सरकार

को पता चला। फलस्वरूप, केशवरावजी ने सोचा कि जो कुछ होना हो, अपनी आंखों के सामने ही हो। इसलिए गंगनाथ विद्यालय को चांदोद से हटा कर वे उसे बड़ौदा ले आए। और वहां रेस कोर्स के पास काशी विश्वेश्वर का जो एक बड़ा मंदिर है, वहां उसकी स्थापना की। इस पर अंग्रेजों की नजर न पड़े इसलिए उन्होंने विद्यालय के संचालन के लिए एक समिति बनायी, जिसके सदस्य के रूप में उन्होंने उन्हीं को लिया जो बड़ौदा राज्य की नौकरी में बड़े स्थानों पर थे। केशवरावजी स्वयं बड़ौदा राज्य की नौकरी में थे, और इन दिनों 'सूबे' के ऊंचे पद पर थे। वे हर इतवार के दिन विद्यालय के विद्यार्थियों और शिक्षकों को लेकर घर-घर भिक्षा मांगने जाते थे और मुट्ठी-मुट्ठी अनाज इकट्ठा कर के विद्यालय को देते थे। बाकी का सारा खर्च वे अपनी तनख्वाह से ही करते थे।

बंग भंग के कारण देश में जो असाधारण जागृति हुई थी, वह अब कहीं दिखाई नहीं देती थी। लोग फिर से अपनी अकर्मण्यता में मशगूल हो गये थे। क्रांति के लिए यह वायुमंडल अनुकूल नहीं था। और केशवरावजी यह पूरी तरह जानते थे कि फिलहाल क्रांति न संभव है, न उचित है। इसलिए जो कुछ करना है, वह क्रांति की पूर्वतैयारी के रूप में ही करना है। उसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर उन्होंने गंगनाथ विद्यालय का बोझ अपने सिर पर उठाया था।

दत्तोपंत जिस समय विद्यालय में शरीक हुए, उस समय विद्यालय में तीन प्रमुख विभाग चलते थे। एक था, शिक्षा विभाग, जिसमें साधारण शिक्षा दी जाती थी। दूसरा था, छात्रालय विभाग, जो आश्रम के रूप में चलाया जाता था। और तीसरा था, उद्योग विभाग, जिसमें सुतारी, बुनाई आदि उद्योगों की शिक्षा दी जाती थी। राजद्रोह की कोई प्रवृत्ति उन दिनों वहां चलती नहीं थी। अलबत्ता, विद्यालय के शिक्षक सभी देशभक्त थे। देशभक्ति से जिनके दिल ओतप्रोत हैं, ऐसे नौजवानों को ही चुनकर केशवरावजी यहां ले आए थे।

'राष्ट्रमत' बंद होने पर दत्तोपंत सीधे शाहपुर गये। उसी अर्से में उनके पिताजी का देहांत हुआ। अब शाहपुर बेलगांव का उन्हें कोई आकर्षण नहीं रहा। वे इस छोटी दुनिया से बिल्कुल विरक्त हुए। पत्नी यहां रहती थी। उनकी गोद में आठ महीने का एक बालक खेल रहा था। पत्नी से उन्होंने कहा, "मैं अब गोवा होकर सीधा बड़ौदा जाऊंगा। वहां हमारे लिए मकान मिलते ही तुम्हें बुला लूंगा।"

इस प्रकार वे शाहपुर की दुनिया से हमेशा के लिए विदा लेकर बड़ौदा गये।

गंगनाथ विद्यालय ने अपने सामने उपनिषद कालीन आश्रमों का आदर्श रखा था। यह उम्मीद रखी गयी थी कि जो विद्यार्थी इस विद्यालय में भर्ती होंगे वे न केवल पढ़ाई करेंगे, बल्कि शिक्षकों के निकट संपर्क में भी रहेंगे। उनके जीवन का निरीक्षण करेंगे और इस निरीक्षण से भी कुछ सीखेंगे। विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच कौटुम्बिक संबंध स्थापित हों, इसलिए केशवरावजी ने शिक्षकों को मामा, नाना, अण्णा, जैसे मराठी परंपरा के घरेलू नामों से पुकारने की प्रथा शुरू कर दी थी। इस प्रथा के अनुसार हेडमास्टर के रूप में नये आए हुए दत्तोपंत को उन्होंने "काका" के नाम से पुकारना शुरू कर दिया। इस प्रकार, गंगनाथ विद्यालय में प्रवेश करते ही दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर काका कालेलकर बने। यह नया नाम उनको हमेशा के लिए चिपक गया। यही नहीं, गंगाधरराव देशपांडे, जीवतराम कृपालानी, नागेशराव गुणाजी जैसे उनके पुराने साथी और मित्र भी उन्हें अब काका ही कहने लगे। उत्तर भारत में किसी को पुकारना हो तो उसके नाम के साथ 'जी" जोड़ देते हैं। वैसे महाराष्ट्र में राव, पंत, या साहेब जोड़ने की प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार काका कालेलकर कुछ समय के बाद काकासाहब कालेलकर बने।

काकासाहब के माने हैं, "काकाजी"।

विद्यालय का पहला सत्र शुरू हुआ तब सभी शिक्षकों ने आपस में चर्चा कर के विषय बांट लिए। काकासाहब के हिस्से में उद्योग विभाग आया। केशवरावजी की इस विभाग में विशेष रुचि थी। और वे इसे काफी बढ़ाना भी चाहते थे। पर काकासाहब को इसमें न तो कोई रूचि थी, न ही वे इसका महत्व समझ सके थे। वे यही मानते आए थे कि शिक्षा तो वही होती है जिसे पाने पर मनुष्य विद्वान बनता है। और राष्ट्रीय शिक्षा वह है, जो मनुष्य को विद्वान बनाने के साथ देशभक्त और क्रांतिकारी भी बनाती है। इसलिए जब काकासाहब को उद्योग विभाग सौंपा गया, उन्हें आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी हुआ। वे काफी असंतुष्ट रहे। आखिर एक दिन उन्होंने केशवरावजी के सामने अपना असंतोष प्रकट किया। केशवरावजी बोले, "हमें क्रान्ति ही करनी है। दूसरा कुछ करना ही नहीं है। पर क्रान्ति हवा में नहीं होती। बंग भंग के कारण जो आन्दोलन चला वह हवा में इसलिए उड़ गया क्योंकि उसके पीछे आम जनता का सहयोग नहीं था। इसी से सबक लेकर हम ने यह रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लिया है। रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा जब तक हम आम जनता को अपने हाथ में नहीं लेते, तब तक क्रान्ति असभव है। इसलिए पहले मनुष्यबल, बुद्धिबल और कार्य-कुशलता बढ़ाते रहो। अनुकूल

समय आयेगा, उसकी प्रतीक्षा करो।"

काकासाहब के लिए यह उपदेश दीक्षा रूप सिद्ध हुआ। उन्हें मानों एक नयी दृष्टि मिल गयी और वे विशेष दिलचस्पी के साथ उद्योग विभाग की ओर ध्यान देने लगे।

धैर्य की कसौटी

सयाजीराव गायकवाड़ बड़ौदा के नरेश थे। उन दिनों के नरेशों में बिल्कुल अनोखे, सुशिक्षित, शीलवान, प्रजाहित-दक्ष और काफी प्रगतिशील थे। उन्होंने अपने राज्य में प्राथमिक शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य बना दी थी। दूर-दूर के देहातों में शालाओं का एक जाल फैला दिया था। अस्पृश्यों के लिए भी उन्होंने खास पाठशालायें खोल दी थीं। अंतरजातीय विवाह और विवाह विच्छेद जैसे कानून भी बनाये थे और सबसे महत्व की बात : रियासत का पूरा प्रशासन स्थानिक गुजराती भाषा में चलाया था।

बड़ौदा राज्य को आधुनिकतम बनाने के लिए जो भी कदम उठाने आवश्यक थे, उन्होंने उठाये थे। देश के सामने अच्छे कल्याणकारी राज्य का एक उत्तम नमूना पेश करने की उनकी महत्वाकांक्षा थी। इसीलिए देश में जहां भी कोई होशियार नौजवान दिखाई दिया, उसे वे बड़ौदा ले आए थे और उसे योग्य स्थान पर बिठा दिया था।

कई विद्वान भी उनके आश्रय में रहते थे।

उनकी एक और विशेषता थी। अपनी मर्यादा में रहकर वे राष्ट्रीय आन्दोलन को सब तरह की सहायता देते आए थे। कई क्रान्तिकारी देश-भक्तों ने उनके राज्य में गुप्त रूप से आश्रय लिया था। सभी देशभक्त उनकी इज्जत करते थे।

पर, समाज ? देश के अन्य हिस्सों की तरह बिल्कुल पिछड़ा हुआ और रूढ़ि-ग्रस्त था। अस्पृश्यों को पढ़ाने के लिए कोई हिन्दू आगे न आया तब सयाजीराव को मुसलमान शिक्षकों के हाथ में अस्पृश्यों की पढ़ाई सौंप देनी पड़ी। राज्य तो प्रगतिशील राजा का था। पर, राज्य चलाने वाले छोटे-बड़े नौकर सनातनी थे। अंत्यजों को पढ़ाने के लिए जब कोई हिन्दू आगे आता, तब राज्य के ये नौकर तरह-तरह के रोड़े डालना शुरू कर देते।

समाज में छोटा-सा सुधार करने के लिए भी सुधारक को कितना धैर्य रखना पड़ता है, इसका अनुभव काकासाहब को प्रारंभ में ही हुआ।

गंगनाथ विद्यालय के छात्रालय में शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर लगभग सौ लोग भोजन करते थे। ये सभी जाति के लोग थे। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र,

आदिमनिवासी सभी। पर रसोई बनाने के लिए मद्रासी ब्राह्मण रखे गये थे, जो पुरानी रूढ़ि, धर्मनिष्ठा में कट्टर माने जाते थे। परोसने का काम महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, शिक्षक और विद्यार्थी, करते थे। और गुजराती ब्राह्मण—वे तो रसोईघर में पांव भी नहीं रख सकते थे। परोसने की बात तो दूर। महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विद्यार्थियों को गुजराती ब्राह्मणों का छुआ हुआ अन्न चल नहीं सकता था।

इस धर्म-रिवाज की ओर जब काकासाहब का ध्यान गया, उनका दिल जल उठा। उन्होंने कहा, "गुजराती ब्राह्मण भले ही यह अन्याय सहन करें, मैं नहीं करूंगा। मैं यह रिवाज एक दिन के लिए भी चलने नहीं दूंगा।"

वे सीधे केशवरावजी के पास गए और उनसे पूछा, "हिन्दू धर्म चातुर्वर्ण्य है, या अनन्त वर्ण्य ?"

"क्या हुआ, यह तो पहले बताओ !" केशवरावजी ने जवाब में कहा।

काकासाहब ने विद्यालय के छात्रालय में जो रिवाज चलता आ रहा था, उसकी ओर ध्यान खींचा। केशवरावजी बोले, "सनातनी समाज ने यह रिवाज मंजूर कर रखा है, इसलिए वह मैंने चलने दिया है। मैं इसमें बदल नहीं करूंगा। पर, तुम अपनी हिम्मत से यह रिवाज बदलना चाहोगे तो मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा। फिर चाहे जो परिणाम हो।"

केशवरावजी का समर्थन मिलते ही काकासाहब ने दूसरे दिन ऐलान किया, "कल से परोसने का काम गुजराती ब्राह्मण विद्यार्थी करेंगे।"

सुधार छोटा था। जातियां तोड़ने की बात इसमें नहीं थी। न ही अब्राह्मणों के हाथ का खाने की बात थी। केवल ब्राह्मण और ब्राह्मणों के बीच का प्रादेशिक भेदभाव दूर करने की बात थी। पर, इसका परिणाम गंगनाथ पर मानों बम गिर पड़ा हो, इस तरह का हुआ। सबसे पहले मद्रासी ब्राह्मण रसोई का काम छोड़कर चले गये। उनकी जगह पर काकासाहब ने गुजराती ब्राह्मण रसोइए नियुक्त किए। तो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विद्यार्थी कहने लगे, "हम तो गुजराती ब्राह्मणों के हाथ का नहीं खा सकते।" छात्रालय में इनकी संख्या बड़ी थी। इसलिए एक के बाद एक जब सभी विद्यार्थी चले गये, तब विद्यालय मानों वीरान सा मालूम होने लगा। तिस पर भी काकासाहब अपने निर्णय पर अटल रहे।

दो ही दिनों में विद्यालय सुनसान हो गया। बड़ौदा में सब जगह इसकी गरमागरम चर्चा चलने लगी। इतने में संस्कृत के एक शिक्षक आकर कहने लगे, "काकासाहब, मैं भी छात्रालय में भोजन नहीं कर सकता।" काकासाहब का मानों दिल ही टूट गया। वे गिड़गिड़ाकर बोले, "आप अपने हाथ से बनाकर

खाइये, पर कृपया विद्यालय न छोड़ें।"

अंत में काकासाहब की दृढ़ता ही विजयी हुई। एक सप्ताह के अंदर दो चार विद्यार्थी लौट आए। फिर दो चार दिनों में और कई आए। फिर सभी आए। संस्था पहले के जैसी ही चलने लगी। काकासाहब को एक तकलीफ अवश्य हुई। गुजराती रसोईयों को अच्छी रसोई की तालीम देनें में उन्हें काफी मिहनत उठानी पड़ी।

रूढ़िग्रस्त समाज में छोटा-सा सुधार भी करना हो, तो सुधारक को कितना धैर्य रखना चाहिए, इसका एक प्रात्यक्षिक काकासाहब को देखने को मिला। और काकासाहब को बड़ौदा में सभी लोग पहचानने लगे।

और एक कारण से भी काकासाहब का नाम बड़ौदा में प्रख्यात हो गया था। काकासाहब खगोल विद्या के रसिया थे। रात के समय घर से बाहर निकल कर आसमान के सितारों से बातें करना, उनका एक शौक था। उन्होंने पूरे आकाश का नक्शा पढ़ डाला था, और उसके कोने कोने का परिचय प्राप्त किया था। यह विषय ही ऐसा है कि जिसे उसका शौक लगता है, वह अकेले उसका आनन्द नहीं लेता। इस आनन्द में दूसरों को भी न्यौता देने लगता है। अपने विद्यार्थियों को रात के समय काकासाहब बाहर ले जाते थे और खुले आकाश के नीचे खड़े रहकर उनका सितारों से परिचय करा देते थे। धीरे-धीरे यह खबर शहर में फैल गई। फलस्वरूप, शहर के कई नौजवान और किशोर रात के समय उनके पास आने लगे। इनमें तेरह-चौदह साल की उम्र का एक महाराष्ट्रीय लड़का आता था। बड़ी जिज्ञासा से प्रश्न पूछता था। और काकासाहब उसकी जिज्ञासाएं तृप्त करने में अपनी पूरी अध्यापन कला उंड़ेल देते थे। इस लड़के का नाम था, विनायक नरहर भावे, जो बाद में विनोबा के के नाम से प्रख्यात हुआ।

गृहस्थी

काकासाहब को विवाह बद्ध हुए लगभग आठ साल हो चुके थे। पत्नी की गोद में एक बच्चा भी खेल रहा था। पर, वे अभी तक अपनी स्वतंत्र गृहस्थी बसा नहीं पाये थे। गंगनाथ में शरीक होते ही उन्होंने पत्नी को बुला लिया। विवाह के बाद पहली ही बार उन्होंने यहां अपनी स्वतन्त्र गृहस्थी बसायी। और गंगनाथ की प्रथा के अनुसार ही काका की पत्नी यहां काकी कहलायी गयीं।

काकी उस जमाने की अन्य सारस्वत महिलाओं जैसी ही थीं। अन्य महिलाओं में और उनमें एक ही फर्क था : पति के रूप में उनका एक ऐसे व्यक्ति

से पल्ला पड़ा था, जो वेदांत और देशभक्ति के आदर्शों से अनुप्राणित हुआ था। आम पतियों से बिल्कुल अलग कोटि का था। पति के आदर्शों के प्रति काकी को विशेष आकर्षण नहीं था। यही नहीं, उन आदर्शों के प्रति एक प्रकार की अश्रद्धा ही थी। कुछ बातें उनकी समझ में भी नहीं आती थीं और कुछ तो उन्हें पसन्द भी नहीं थीं। फलस्वरूप, पति को अनुकूल बनाने के लिए उन्हें काफी कष्ट सहन करने पड़े। उनकी परवरिश एक अलग वायुमंडल में हुई थी। प्रेम, सुख, कौटुम्बिक जीवन, हर बात में उनकी कल्पनाएं पति के आदर्शों से अलग कोटि की थीं। उन्होंने कई तरह के सपनों को देखा था। इन सारे सपनों का विसर्जन करना, नयी परिस्थिति को निभा लेना, 'यही तकदीर में था', इस तरह अपने को समझाना, यह उनके लिए लगभग पुनर्जन्म के समान था। बल्कि यों कहना चाहिए कि यह एक प्रकार का पुनर्जीवन था।

पुनर्जन्म से पुनर्जीवन के कष्ट अधिक होते हैं।

पर, अपने इस देश में सहवास के कारण पति-पत्नी का जीवन धीरे-धीरे परस्पर ओतप्रोत हो ही जाता है। धीरे-धीरे उनके बीच के अंतर अपने आप दूर हो जाते हैं। और जो रह जाता है उसकी दोनों को इतनी आदत पड़ जाती है कि वह अंतर भी उन्हें अंतर सा मालूम नहीं होता।

बड़ौदा में दोनों ने एक दूसरे को समझकर परस्पर अनुकूल बनने के काफी प्रयत्न किए। हां, घर में कोई बुजुर्ग नहीं था। इसलिए कभी-कभी दोनों के बीच बहस हुआ करती और वह कभी-कभी इतनी गर्मागर्म हो जाती कि उस समय अगर कोई पराया आ जाता तो उसे यही लगता, "यह दोनों लड़ तो नहीं रहे हैं ?"

काकी के स्वभाव के कुछ अनोखे पहलू काकासाहब ने पहली ही बार यहां देखे।

घर खर्च के लिए काकासाहब माहवार केवल चालीस रुपए लेते थे। इसलिए काकी को पाई-पाई का हिसाब रखकर खर्च करना पड़ता था। काकी को इसकी आदत नहीं थी। वह फिजूल खर्ची नहीं थी। पर, यह कमाऊ-खाऊ जीवन उनके लिए नया था। एक दिन घर में लाए हुए चावल खत्म हुए। चावल खरीदने के लिए उन्होंने काका से पैसे मांगे। काका बोले, "वेतन तो दस दिन के बाद मिलेगा। तुम कहती हो तो किसी से कर्ज ले लूंगा।"

"कर्ज" ? काकी गुस्से में उछल पड़ीं, "फिर कभी आपके मुंह से मैं यह शब्द सुनना नहीं चाहती। जिस घर में कर्ज की बला घुस जाती है, उस घर से लक्ष्मी चली जाती है। आप खर्च के लिए जितने देंगे, उतने में मैं निभा लूंगी।

आपने देशसेवा का व्रत लिया है, इसलिए घर में गरीबी आ गई है। यह स्वेच्छा स्वीकृत गरीबी है। हमारी शान बढ़ाने वाली है। उसे मैं दैन्य नहीं मानती। कर्ज की बात कभी न करना। समझे ?"

काकी की यह प्रतिक्रिया देख कर काकासाहब खुशी के मारे उछल पड़े। बोले, "तुम्हारा इतना ही सहयोग मिलता रहा तो मैं बड़ी से बड़ी मुसीबतें भी बड़ी खुशी के साथ झेल लूंगा।"

जिन्दगी में पहली बार दोनों एक दूसरे के नजदीक आने लगे थे।

काकासाहब का यहां पूरा समय बंधा हुआ रहता था। प्रातःकाल वे बिस्तर छोड़ते और एकाध घंटा ध्यान में बिताते। फिर स्वाध्याय शुरू होता। कभी वेद पढ़ते या उपनिषद और गीता पढ़ते। तो कभी मराठी संत साहित्य में गहरे उतरते। इसके बाद विद्यालय में पढ़ाने जाते। सारा दिन विद्यार्थियों और शिक्षकों के ही बीच बिताते। उनके हिस्से ऐसे कई नटखट विद्यार्थी आए थे, जिनके प्रति उनके मां-बाप भी निराश हुए थे। ऐसे विद्यार्थियों पर काबू पाना, उन्हें विद्या का स्वाद चखाना, "आदर्शों के पीछे पागल बनने में ही जीवन की कृतार्थता है।" यह उन्हें समझाना, यह सब अपने आप में एक प्रकार का अध्ययन ही था। अध्यापन भी उनके लिए अध्ययन का क्षेत्र बन गया था। इन विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते उन्हें तरह-तरह के प्रयोग करने पड़े। फलस्वरूप, शिक्षाशास्त्र के कई सिद्धांत इन्हीं विद्यार्थियों के संपर्क में उनके सामने अपने आप प्रकट होते गए। सारा दिन इस प्रकार शिक्षा के प्रयोग में व्यस्त रहने के बाद वे शाम को घर लौट आते थे। और तुरंत केशवरावजी के यहां चले जाते थे। केशवरावजी के यहां जाकर घंटे दो घंटे बिताना यह भी उनके नित्य कर्म का एक हिस्सा था। वहां तरह-तरह की चर्चाएं चलतीं। केशवरावजी से जो मिलने आते उनसे परिचय होता, और देश में कहां क्या चल रहा है, इसकी जानकारी मिलती। इसके बाद वे रात को घर लौट आते। तब भी साथ में कोई न कोई विद्यार्थी या शिक्षक रहता था और उसके साथ भी काव्य शास्त्र विनोद चलता रहता था।

नागेशराव गुणाजी से उनका बेलगांव में परिचय हुआ था। उनके साथ उन्होंने वहां स्वामी रामतीर्थ की रचनाओं का मराठी में अनुवाद कर डाला था। अब गुणाजी यहां आ गए थे। और गंगनाथ में छात्रालय विभाग संभाल रहे थे। उनके आने से दोनों के बीच का साहित्य सहयोग फिर से शुरू हुआ। काकासाहब ने इन दिनों अमरीका के निग्रो नेता बुकर टी वाशिंग्टन की दो पुस्तकें पढ़ी थीं, जो उन्हें बहुत प्रेरक मालूम हुई थीं। एक थी, "अप फ्रॉम स्लेवरी" और दूसरी "माई लार्जर एज्यूकेशन"। गुणाजी के साथ काकासाहब

ने इन दोनों पुस्तकों का मराठी में अनुवाद कर डाला। इसमें से "माई लार्जर एज्यूकेशन" के हर अध्याय पर अपना स्वतंत्र मनन भी लिख डाला।

इस वातावरण का काकी पर भी कुछ असर हुआ। उन्होंने एक दिन काका से पूछा "आप सारी दुनिया को पढ़ाते हैं। मुझे क्यों नहीं पढ़ाते ?"

काकासाहब उनकी ओर देखते ही रहे। दूसरे ही क्षण उन्होंने जवाब दिया, "क्यों नहीं ? बड़ी खुशी से तुम्हें पढ़ाऊंगा।"

काकासाहब ने उसी दिन अपनी समय-सारिणी में बदल कर दिया। केशवरावजी के यहां से लौटने के बाद का सारा समय काकी के लिए रख छोड़ा। उन्हें आधुनिक मराठी कवि केशवसूत, बालकवि, रेव्हरंड तिलक की कविताएं पढ़ाना शुरू कर दिया। रात के भोजन के बाद वे घुड़दौड़ के रास्ते रोज घूमने जाते थे। तब काकी को भी साथ ले चलते। चांदनी रात हो तो बड़ी देर तक घूमते रहते। तब भी उनका कविता का वर्ग चलता रहता।

दोनों के जीवन का यह बड़ा आनन्द का काल था। एक दिन यकायक काकी बीमार पड़ीं। करीब-करीब बेहोशी में रहने लगीं। काकासाहब की ठसाठस भरी हुई समय-सारिणी में अब और तीन काम बढ़ गए। काकी की सेवा, छोटे शंकर की निगरानी और रसोई। कभी-कभी उनके मन में आता, "कितना सुखी संसार था। किसी की नजर तो नहीं लगी ?"

काकी कहने लगीं, "मुझे शाहपुर ले चलिए। वहां की हवा से ही मैं अच्छी हो जाऊंगी।"

डाक्टरों की भी यही राय रही। सेहत में कुछ सुधार दिखते ही काकासाहब काकी को शाहपुर छोड़ आए।

संकट

केशवरावजी गंगनाथ विद्यालय के मानों प्राण थे। उन्होंने देश के उत्तमोत्तम राष्ट्र सेवकों को यहां लाकर रखा था। इन राष्ट्र सेवकों की श्रद्धायुक्त सेवा इस संस्था को मिली थी। अपना सारा बुद्धि कौशल आजमा कर उन्होंने यहां शिक्षा के तरह-तरह के प्रयोग किए थे।

काकासाहब रोज शाम को केशवरावजी के यहां जाया करते थे। देश की असहाय स्थिति और सरकार की दमन नीति से दोनों व्याकुल थे। "यह सब सहा नहीं जाता" इस तरह के उद्‌गार भी दोनों के मुंह से बीच-बीच में निकलते थे। पर, दोनों बंग भंग आंदोलन के परिणाम देख चुके थे। देश की प्रतिकार शक्ति बिल्कुल खत्म हो गई है, इस नतीजे पर दोनों आए थे।

लड़ने की 'मस्ती' केशवरावजी में कम नहीं थी। पर फिलहाल वे किसी भी

प्रकार की लड़ाई मोल लेना नहीं चाहते थे। लोगों की प्रतिकार शक्ति बढ़ाने के रचनात्मक उपायों की खोज में ही वे फिलहाल मग्न थे। लड़ने की बात निकल पड़ती तब वे अकुला कर बोल उठते, "यह मत भूलो कि हम गुलाम हैं। हम अधिकारों की बात नहीं कर सकते। गुलामों का एक ही अधिकार होता है : गुलाम रहने का। यह लड़ने-वड़ने की बात दिमाग से निकाल दो। और चुपचाप लोगों की सेवा करते रहो।"

उनके व्यक्तित्व में एक बड़ा अद्‌भुत मिश्रण दिखाई देता था। उनका दिल ज्वालामुखी की तरह भभकता रहता था। पर दिमाग हिमालय की तरह शांत था।

गंगनाथ के प्रयोगों पर सरकार की बुरी नजर न पड़े, इसके लिए वे सब तरह की सावधानी बरतते आए थे। पर क्या सूरज को कभी घने बादल छुपा सके हैं? गंगनाथ विद्यालय के शिक्षकों का त्यागी, समर्पित जीवन, उनका भूतकाल, स्वयं केशवरावजी की क्रांतिकारी मनोवृत्ति, अरविंद बाबू से उनकी मैत्री यह असलियत गंगनाथ की ओर सरकार की वक्र-दृष्टि खींचने के लिए पर्याप्त थी।

एक दिन अंग्रेजों के खुफिया विभाग का एक अफसर बड़ौदा आया। गंगनाथ विद्यालय में क्या पढ़ाया जाता है, कौन पढ़ाते हैं, सब देख कर गया। उसने अपनी गुप्त रिपोर्ट सरकार को दी। यही नहीं, गंगनाथ विद्यालय से सजग रहने की सलाह भी सरकार को दी।

उसने केशवरावजी से कहा, "ऊपर-ऊपर से संस्था तो निर्दोष मालूम होती है। पर, यह मत भूलिए कि सरकार भोली नहीं है। सरकार संस्था के उद्देश्यों से कतई अज्ञान नहीं है।" और मामा फडके का नाम लेकर उसने कहा, "यह सज्जन आपके यहां शिक्षक के रूप मे काम करते हैं। इतिहास पढ़ाते हैं। आपका क्या यह ख्याल है कि हम इनको नहीं जानते? इनका भूतकाल हम भलीभांति जानते हैं। ये सावरकर के दल के आदमी हैं। अच्छा होगा, अगर आप उन्हें संस्था से अलग कर दें।"

संस्था के व्यवस्थापकों में बड़ौदा राज्य के कुछ अधिकारी थे। उन्होंने भी केशवरावजी पर दबाव डालकर कहा, "अच्छा ही होगा अगर हम मामा को विद्यालय की सेवाओं से मुक्त कर दें।"

केशवरावजी चिंतित हुए। वे मामा को खोना नहीं चाहते थे। पर विद्यालय को भी संकट में डालना नहीं चाहते थे। उन्होंने मामा से ही पूछा, "इस हालत में हमें क्या करना चाहिए, आप ही बताइये।"

तेजस्वी मामा ने तपाक से जवाब दिया, "मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण संस्था की हानि हो। आप मुझे आज ही मुक्त कर दें।"

केशवरावजी के हाथ में मामा ने उसी क्षण त्यागपत्र थमा दिया। काकासाहब के लिए यह असह्यय था। उन्होंने केशवरावजी से कहा, "सरकार ने आज मामा को हटाने की सलाह दी। कल और किसी को हटाने की सलाह देगी। फिर एक दिन संस्था ही बंद करने को कहेगी। हम सब शिक्षकों को सरकार अच्छी तरह से जानती है। मैं मामा को हमारे किले की सबसे बाहरी दीवार मानता हूं। यह दीवार तोड़ने में सरकार को सफलता नहीं मिलनी चाहिए थी। बाहरी दीवार पर जब तक हम लड़ सकते थे, हमें लड़ना चाहिए था। जब तक सरकार का ध्यान बाहरी दीवार पर है, भीतर की सभी दीवारें सुरक्षित रह पातीं। अब तो पूरी संस्था खतरे में है।"

केशवरावजी बोले, "अब तो देर हो चुकी है।"

वाकई देर हो चुकी थी। बाहरी दीवार ढह चुकी थी। अब सरकार किले की अंदरूनी दीवारों पर धावा बोलने के मौके की प्रतीक्षा में रही। कुछ ही दिनों में उसे एक मौका मिल गया।

गर्मी के दिन थे। दिन ढल चुका था। बड़ौदा के बाजार में एक दुकान पर दो शरीफ लड़कियां कुछ खरीद रही थीं। इसी समय ब्रिटिश रेजीडेन्सी के दो गोरे सिपाही वहां से गुजरे। उनकी नजर इन लड़कियों पर पड़ी और उन्होंने उनसे छेड़छाड़ शुरू कर दी। बगल में एक नौजवान खड़ा था। उससे यह सहा नहीं गया। उसने सिपाहियों को गंभीर चेतावनी दी। पर जब देखा कि सिपाही चेतावनी की परवाह नहीं करते, उसने जेब से पिस्तौल निकाली और उन पर धड़ाधड़ गोलियां चला दीं। खून से लथपथ दोनों सिपाही जमीन पर लुढ़क गए।

यह नौजवान गंगनाथ विद्यालय का एक पुराना विद्यार्थी था।

अंग्रेज दफ्तरशाही मौके की ताक में थी। इससे पहले केशवरावजी को अपने कब्जे में लेने के उसने कई प्रयत्न किए थे। पर वह इसमें कामयाब नहीं हुई थी। क्योंकि केशवरावजी सयाजीराव के विश्वासपात्र अधिकारी थे और हमेशा उनके संरक्षण में रहते थे। और दूसरे, उनके विरुद्ध वह कोई ठोस सबूत जुटा न सकी थी। उसने सयाजीराव पर परोक्ष-अपरोक्ष दबाव डाल कर केशवरावजी को अपने कब्जे में लेने के हर तरह के प्रयत्न करके देखे। पर जब देखा कि इसमें वह हमेशा असफल ही रहते हैं, उसने नये रुख अपनाए। वह अब केशवरावजी को छोड़कर सयाजीराव को किसी न किसी बहाने बदनाम करके पदच्युत करने के प्रयत्न में लग गयी। उसे अब छोटे शिकारों में दिल-चस्पी नहीं थी।

12 दिसंबर 1911, दिल्ली में सम्राट पांचवे जार्ज के राज्यारोहण का समारोह आयोजित किया गया था। इस अवसर पर सरकार ने दो बड़ी घोषणायें कीं।

एक, जिसके कारण देश में असंतोष फैला था, वह बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया। और दूसरी, अंग्रेजों की राजधानी कलकत्ता से हटा कर दिल्ली लाई गयी। इस राज्यारोहण के समारोह में उपस्थित रहने के लिए सभी रियासतों के नरेशों को निमंत्रण दिए गए। सयाजीराव को भी दिया गया।

सम्राट और साम्राज्ञी को अभिवादन करने का कार्यक्रम उस दिन सुबह 10 बजे से शुरू हुआ। वायसराय और गवर्नरों के अभिवादन के बाद जब देशी रियासतों के नरेशों की बारी आई, तब पहले हैदराबाद के निजाम ने अभिवादन किया। दूसरा स्थान बड़ौदा के नरेश सयाजीराव गायकवाड का था। सूचना यह थी कि अभिवादन करने वाले जब अभिवादन करके लौटेंगे तब वे सम्राट की ओर मुंह करके पीछे पांव लौटेंगे। सयाजीराव पीछे पांव नहीं लौटे। लौटते समय वे एक खंभे से टकराये और पीठ फेर कर लौट आए।

बस, सरकारी परिमंडल को प्रक्षुब्ध होने के लिए इतना ही काफी था। उसने यह आरोप लगाया कि सयाजीराव ने जानबूझ कर सम्राट का अपमान किया है। इसको लेकर अंग्रेजी अखबारों ने सयाजीराव पर हमले शुरू कर दिए। सन् 1905 से लेकर अब तक उन्होंने जो 'अपराध' किए थे, उनकी फेहरिस्त अब इन अखबारों में छपने लगी। सयाजीराव के विरोध में मानो एक मुहीम ही शुरू कर दी। इस मुहीम के अगुवा थे, बड़ौदा में स्थित ब्रिटिश रेजिडेण्ट। उन्होंने सयाजीराव से दो मांगें कीं। एक, केशवरावजी को नौकरी से मुक्त कर दें, और दूसरी, गंगनाथ विद्यालय बंद कर दें।

केशवरावजी ने सोचा, मेरे कारण ही अंग्रेज दफ्तरशाही सयाजीराव को तंग कर रही है। उन्हें इन परेशानियों से मुक्त करना क्या मेरा कर्तव्य नहीं है? काफी सोच-विचार करके केशवरावजी ने सयाजीराव को अपना त्यागपत्र दे दिया और सयाजीराव ने बड़े दुःख के साथ उसको स्वीकार किया।

इतनी बड़ी उल्टा पलटी के बाद गंगनाथ विद्यालय का क्या होता? उसके संचालक घबड़ा गये। विद्यालय बंद करने का ऊपर से हुक्म आए, उससे पहले ही उसे बंद कर देने का उन्होंने निर्णय लिया।

चारों ओर निराशा

विद्यालय बंद करने के संचालकों के इस निर्णय से काकासाहब बहुत दुःखी हुए। उन्होंने संचालकों से गिड़गिड़ा कर कहा "आप चाहें तो सब त्यागपत्र देकर गंगनाथ से अलग हो जायें। हम शिक्षक और विद्यार्थी अपनी हिम्मत पर विद्यालय चलायेंगे। विद्यालय ने तो कोई अपराध नहीं किया है। वह तो जनता के आश्रय से ही चलता आया है। उसे बंद क्यों करें?"

संचालक बोले, "इससे सरकार का संदेह दूर नहीं होगा। उल्टे वह कहेगी कि यह त्यागपत्र वगैरह सब दिखावा है। अंदर से सब संस्था चला रहे हैं।"

काकासाहब ने कहा, "सरकार का यह संदेह दूर करने के लिए आप संस्था की निधि का दूसरा कोई उपयोग करें। सारा फर्नीचर ले जायें। मुझे सिर्फ संस्था का नाम दें। गंगनाथ विद्यालय के नाम से ही मुझे काम करने की इजाजत दें।"

संचालक कोई दलील सुनने के लिए तैयार नहीं थे। वे बोले, "आप जो करना चाहते हैं, उससे तो केशवरावजी और सयाजीरावजी दोनों और भी ज्यादा मुसीबत में पड़ जायेंगे। क्या आपको ख्याल भी नहीं कि दोनों पर कितना बड़ा संकट आ पड़ा है?"

फिर भी काकासाहब अपनी दलीलें पेश करते रहे।

पर साथियों ने उन्हें अपंग बना दिया। वे सब डर गए थे। अंग्रेजों का और विद्यालय के संचालकों का रुख देखकर करीब-करीब सभी शिक्षक बड़ौदा छोड़ कर अपने-अपने गांव चले गए। निकटतम साथी ही संकट के समय सहारा छोड़ दें तो किसके भरोसे संस्था चलाने की हिम्मत करें? फिर भी काकासाहब को आशा थी। वे अब विद्यार्थियों की ओर देखने लगे। "क्या विद्यार्थी मेरे साथ रहेंगे?" पर, विद्यार्थी भी उन्हीं मां-बाप के बेटे थे, जो सरकार से डरने का अपना स्वधर्म छोड़ नहीं सकते थे। गरीब से गरीब विद्यार्थी का भी कोई न कोई रिश्तेदार सरकार पर आश्रित था। उच्च वर्ग की पामरता और गरीब वर्ग की यह निष्काम कायरता देखकर काकासाहब निराश हुए। हाथ में भले ही एक पाई भी न हो, संचालक भले ही संस्था छोड़ दें, शिक्षक भले ही चले जायें, केवल विद्यार्थियों के बल पर विद्यालय चलाने की वे हिम्मत रखते थे। पर जब देखा कि एक भी विद्यार्थी उनके साथ रहने के लिए तैयार नहीं है, वे हिम्मत हारे।

कितनी श्रद्धाभक्ति के साथ उन्होंने यहां अपने शिक्षा के प्रयोग चलाये थे! कितने सुंदर-सुंदर स्वप्नों की कल्पना की थी!

सारे स्वप्न जैसे मटियामेट हो गए!

जिस क्रांति के लिए यह सब किया जा रहा था, उससे भी वे निराश हुए थे। वे अब भी यही मानते थे कि देश अगर स्वतंत्र होगा तो सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही होगा। पर सशस्त्र-क्रांति के नाम से जो चल रहा था, वह क्रांति का मार्ग नहीं था। बल्कि क्रांति में रुकावटें डालने वाला मार्ग था। वे अपने क्रांतिकारी साथियों से कहते थे कि क्रांति के नाम से जो चल रहा है, उसे सशस्त्र-क्रांति नहीं कह सकते। इक्की दुक्की हत्याओं से अंग्रेज जरूर घबरा जायेंगे, पर क्या वे

इतने घबरा जायेंगे कि देश छोड़कर भाग जायें ? ऐसा मानना गलत है। फिर इक्की-दुक्की हत्याओं से हम अपने अच्छे-अच्छे कार्यकर्ताओं को भी खो बैठते हैं। कर्जन वायली की हत्या से क्या हम मदनलाल धिंगरा जैसे उत्तम से उत्तम कार्यकर्ता को खो नहीं बैठे ? कर्जन वायली लार्ड कर्जन तो नहीं था। एक मामूली जासूस था। उसकी हत्या के लिए हम अपने अच्छे क्रांतिकारी को खो बैठें यह कौन सी बुद्धिमानी है ?

पर उनकी कोई सुनता नहीं था। फिर, उन्हें संदेह होता था, क्या मैं केवल स्वप्नदर्शी हूं ? व्यावहारिक क्रांतिकारी नहीं हूं ?

क्रांतिकारियों में उन्होंने ऐसे लोग भी देखे थे जो ऊपर-ऊपर से सीधे और त्यागी दीखते थे। पर अन्दर से पूरे चालबाज और चंट थे। आबा साहेब राम-चन्द्र को ही लीजिए। कितने लोगों को उन्होंने धोखा दिया था ! सेनापति बापट को उन्होंने ही पकड़वा दिया था। अभी-अभी केशवरावजी को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा, उसमें भी उनका हाथ था। ऐसे लोग क्रांतिकारियों के बीच कैसे घुस पाए ? अगर क्रांतिकारी सतर्क रहते तो क्या ऐसा कभी हो पाता ? पर सतर्कता की और क्रांतिकारिता की हमारे यहां मानो दुश्मनी ही है। कोई योजना बनाओ, कुछ ही दिनों में वह सरकार के पास पहुंच जाती है। सारी प्रवृत्तियां छिछली, ऊपरी-ऊपरी और गलत सिद्ध हुई हैं। ऐसी प्रवृत्तियों से भारत स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इन प्रवृत्तियों को न तो कोई दिशा है और न नियंत्रण। दिशा दिखाने वाला और नियंत्रण में रखने वाला भी कोई नहीं है। लोकमान्य मंडाले में सड़ रहे हैं। अरविंद सब कुछ छोड़कर योग साधना में लीन हो गए हैं।

तो क्या, भारत माता को स्वतन्त्र देखने के स्वप्न भी मटियामेट हो जाएं ? ठीक इसी समय किसी ने उनको बताया कि उन्हें भी गिरफ्तार करने के लिए वारंट निकला है। काकासाहब को चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देने लगा। अंतर्मुख होकर वे अपनी निराशा के विरुद्ध लड़ने लगे। इस निराशा के अंधेरे में अचानक उनके सामने हिमालय आकर खड़ा रहा।

रामतीर्थ की रचनाओं का मराठी में अनुवाद किया था तभी से हिमालय के प्रति उनके मन में एक जबरदस्त आकर्षण पैदा हुआ था। अब जब वह आंखों के सामने खड़ा हुआ, काकासाहब को लगा, "मालूम होता है, सारे सांसारिक पाश छोड़ दूं, सारी ऐहिक प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाऊं और अध्यात्म साधना के लिए हिमालय में चला जाऊं यही ईश्वर की इच्छा है। वरन्, वह चारों ओर ऐसी निराशा ही निराशा न खड़ा कर देता।"

उन्होंने हिमालय जाने का पक्का निश्चय किया। कुछ ही महीनों पहले काकी

अच्छी होकर बड़ौदा लौट आई थी। अब वह गर्भवती थी। उनसे उन्होंने कहा, "प्रसूति के लिए मैं तुझे वैसे भी मायके भेज देना चाहता था। अब तो मैं स्वयं तुझे छोड़ने वहां जाऊंगा। तुझे छोड़कर पिताजी की अस्थियां लेकर प्रयाग जाऊंगा। वहां त्रिवेणी संगम में अस्थियां समर्पित करके काशी और गया जाऊंगा और थोड़ी यात्रा करके लौट आऊंगा।"

उनके मन में जो चोरी थी वह उन्होंने "और थोड़ी यात्रा करके" इन शब्दों में रख दी थी। वे घर छोड़कर, गृहस्थी को छोड़कर हमेशा के लिए जा रहे हैं, वापस लौटना ही नहीं चाहते, इस बात का संदेह भी उन्होंने काकी के मन में पैदा होने नहीं दिया।

और एक दिन राष्ट्रीय शिक्षा, देश की स्वतंत्रता, अपनी गृहस्थी सब कुछ का त्याग करके काकासाहब ने हिमालय की ओर प्रस्थान किया।

3. मिशन की खोज में

हिमालय में

काकी को मायके छोड़कर गोवा, बंबई, बड़ौदा, जबलपुर के रास्ते से वे प्रयाग पहुंचे। उन्हें पहले त्रिस्थली की यानी प्रयाग, काशी और गया की—यात्रा पूरी करनी थी। प्रयाग के त्रिवेणी संगम में पिताजी की अस्थियां विसर्जित करनी थीं और गया में उनका श्राद्ध करना था।

हिन्दू धर्म का उज्जवल स्वरूप उन्होंने श्रुतियों में देखा था। उसका कर्मकांडी सनातनी स्वरूप बचपन में अपने घर में देखा था। उसका घिनौना स्वरूप अब उन्हें त्रिस्थली की यात्रा में देखने को मिला। इस यात्रा में उन्होंने समाज में फैली हुई अंध-श्रद्धाएं देखीं। वैसे ही धर्म का ठेका लेकर बैठे हुए पुरोहितों का पाखंड, ढोंग, दंभ और मिथ्याचार देखा। यह देखकर वे अपने आप से पूछने लगे कि क्या, यही वह हिन्दू-धर्म है, जिसके प्रति विवेकानन्द ने मेरे मन में श्रद्धा पैदा की थी। हिन्दू धर्म ने कितना सुन्दर जीवनदर्शन हमें दिया है। फिर, उसकी ऐसी दुर्दशा क्यों और कैसे हुई। अब इसके लिए क्या इलाज है। आगे की यात्रा पर इन प्रश्नों ने उनके मन में धीरे-धीरे खोज का स्वरूप लिया।

त्रिस्थली की यात्रा के बाद और तीन स्थलों का दर्शन बाकी था। एक उस बोध गया का, जहां भगवान बुद्ध को बोधि प्राप्ति हुई थी। दूसरा, जिनके ग्रंथों के कारण उनके मन में धर्म-श्रद्धा जागृत हुई थी उन स्वामी विवेकानन्द के बेलूर मठ का, और तीसरा प्रभु रामचंद्र के नाम से पूनित हुई अयोध्या नगरी का। गंगनाथ विद्यालय के उनके साथी अनंतबुवा मर्ढेकर इस यात्रा में उनके साथ थे। उनके लिए अयोध्या दर्शन एक तरह से पुण्ययात्रा थी, तो बेलूर मठ का दर्शन काकासाहब के लिए महायात्रा के समान था। बेलूरमठ में उन दिनों श्रीरामकृष्ण की पत्नी श्रीशारदा माता रहती थीं। उनके आशीर्वाद की लालसा भी काकासाहब के मन में कहीं छिपी हुई थी।

इन तीन स्थानों का भक्तिपूर्वक दर्शन करने के बाद वे "बरसात के बाद के बादलों की तरह हल्के" हो गए और हिमालय की ओर चल पड़े। सबसे पहले वे अल्मोड़ा गए। वहां उनके घनिष्ठ मित्र स्वामी आनन्द रहते थे। 'राष्ट्रमत' के समय से उनसे संबंध था। उन्हीं के साथ उन्हें हिमालय की यात्रा करनी थी। अल्मोड़ा पहुंचने पर उन्हें खबर मिली कि काकी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया है और उसे उसके दिवंगत दादाजी का 'बालकृष्ण' नाम रखा गया है। काकासाहब गृहस्थी से बिल्कुल विरक्त हो गए थे। उन्होंने काकी को एक पत्र लिखा : "अपने संकल्प के अनुसार त्रिस्थली की यात्रा पूरी करके अब मैं हिमालय में पहुंच गया हूं। अब यहां से तपश्चर्या के लिए मैं किसी एकांत स्थान में जा रहा हूं। कम से कम तीन वर्ष मुझे एकांत में बिताने हैं। अतः मेरे पत्रों की प्रतीक्षा मत करना।"

काकी के लिए यह पत्र मानो एक तरह का बम था। काकासाहब ने बिल्कुल निष्ठुर होकर वह उन पर फेंका था। उन्हें तीन वर्षों के बाद लौटने की इच्छा भी नहीं थी। संन्यास की दीक्षा लेकर वे अपना शेष जीवन हिमालय में मोक्ष की साधना में बिताना चाहते थे। ईश्वर की प्रेरणा हुई तो—और तभी—विवेकानन्द की तरह अपनी शक्ति के अनुसार देश की सेवा करना चाहते थे। वरन् हमेशा के लिए हिमालय में ही रहने का उनका विचार था। पर, काकी को यह बताने की उन्हें न तो आवश्यकता महसूस हुई और न इच्छा ही हुई। क्योंकि उन्हें अब गृहस्थी में लौटना ही नहीं था।

चूंकि हिमालय में उन्हें साधना करनी थी, इसलिए पहले किसी गुरु से मंत्र-दीक्षा लेने की आवश्यकता थी। हिमालय के लिए प्रस्थान करने से पहले उन्होंने केशवरावजी से मंत्रदीक्षा ली। केशवरावजी ने अरविंद घोष के साथ मोहनपुरी नामक एक संन्यासी से देवी उपासना की दीक्षा ली थी। इसलिए उन्होंने केशवरावजी को ही गुरु के रूप में चुन लिया। केशवरावजी ने उनको "नवार्ण" मंत्र की दीक्षा दी। हिमालय में हरिद्वार की उत्तर की ओर गंगा के तट पर श्रीनगर नाम का जो सिद्धपीठ है, वहीं बैठकर पुरश्चरण करने का उनका पहले विचार था। पर जब अल्मोड़ा पहुंचे, उन्होंने यह विचार बदल दिया। पहले उत्तराखंड के जम्नोत्री, गंगोत्री, केदार और बद्री इन चार धामों की यात्रा पूरी कर डाली। उन दिनों यह यात्रा बड़ी दुर्गम मानी जाती थी। सारी यात्रा पैदल ही करनी पड़ती थी। फिर भी केवल चालीस दिनों में उन्होंने यह आठ सौ मील की कठिन यात्रा पूरी की।

यात्रा का उद्देश्य आत्मिक साधना ही था। पर, यह यात्रिक पुराने ढंग के साधक नहीं थे। उनमें देशदर्शन की उत्कंठा थी, वैसी प्रकृति के सभी उन्मेषों

की ओर भक्तिभाव से देखने की दृष्टि भी थी। समाज निरीक्षण की उन्हें आदत थी। और सबसे महत्व की बात यह थी कि हर आध्यात्मिक अनुभव को विवेक की कसौटी पर कसकर देखने की उनमें शक्ति थी। कॉलेज के दिनों में उनपर बुद्धिवाद का जो प्रभाव पड़ा था, उसने इस उम्र में विवेक का रूप ले लिया था। उनका विवेक यहां सतत जाग्रत रहा। फिर, उनमें देश की स्वतंत्रता की और सामाजिक सुधारों की लगन भी थी। यह लगन भी यहां उनके उपयोग में आई। इस बारे में काकासाहब लिखते हैं, "वरना, मेरी साधना पुराने ढंग से ही चलती और उसमें पुरानी रूढ़ियों की कृत्रिमता आ जाती। भविष्य की सेवा के लिए मैं निकम्मा बन जाता, और आध्यात्मिकता में जो गहराई आई, वह कभी न आ पाती।"

उत्तराखंड के चार धामों की यात्रा पूरी करके जब वे हरिद्वार लौटे, तब कनखल के श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम में स्वामी ब्रह्मानंद से मिले। स्वामी ब्रह्मानंद यानी श्रीरामकृष्ण परमहंस के प्रिय शिष्य—पूर्वाश्रम के राखालबाबू। वे बड़े शिष्यवत्सल गुरु माने जाते थे। इस समय वे श्रीरामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष भी थे। उनको अपनी पूरी कथा सुनाकर काकासाहब ने संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। उसी समय उन्हें अगर दीक्षा दी जाती तो काकासाहब संभवतः श्रीरामकृष्ण संप्रदाय के एक संन्यासी के रूप में ही अपना जीवन बिताते। पर, स्वामीजी बोले, "दीक्षा तो अभी नहीं, बल्कि तीन वर्षों की उम्मीदवारी के बाद ही दी जा सकती है। तब तक आप एक ब्रह्मचारी के रूप में यहां रह कर ध्यान का अभ्यास करते रहिए।"

काकासाहब तुरंत दीक्षा लेना चाहते थे। पर, जब देखा कि तुरंत दीक्षा लेना संभव नहीं है, उन्होंने स्वामीजी से कहा, "तब तो मेरी जो कुछ इच्छाएं अभी शेष रही हैं, वह पूरी कर लेता हूं। उत्तराखंड की यात्रा में ही अमरनाथ की यात्रा का संकल्प जाग्रत हुआ था। यह यात्रा अब पूरी कर लूंगा और उसके बाद मिशन में भर्ती होऊंगा।"

आमतौर से एक दुर्गम यात्रा पूरी करने के बाद दूसरी दुर्गम यात्रा के लिए कोई चल नहीं पड़ता। एकाध साल रुककर ही दूसरी यात्रा करता है। काकासाहब आठ सौ मील की एक दुर्गम यात्रा चालीस दिनों में पूरी करके लौटे थे और अब दूसरी उतनी ही दुर्गम यात्रा करने की इच्छा रखते हैं, यह देखकर ब्रह्मानंदजी प्रसन्न हुए और प्यार से बोले "ठीक है, आप पहले अमरनाथ हो आईए।"

और काकासाहब अमरनाथ की यात्रा पर निकल पड़े।

संन्यास की दीक्षा उन्हें तुरंत नहीं मिली यह एक दृष्टि से अच्छा ही हुआ।

क्योंकि उनके घुमक्कड़ संस्कारों को इससे पोषण ही मिला और वे अमरनाथ से नेपाल तक की यात्रा कर पाए। ढाई साल तक वे लगातार घूमते ही रहे और उन्होंने लगभग ढाई हजार मील की पैदल यात्रा की। करीब-करीब पूरा हिमालय उन्होंने "पादाक्रांत" कर लिया।

इस यात्रा में उन्होंने जो देखा वह सब भव्य और भव्यतर तथा दिव्य और दिव्यतर था। उसका आनन्द अकेले-अकेले अनुभव करना उनके लिए मुश्किल था। उसे दूसरों के सामने प्रकट करने की एक अदम्य इच्छा उनमें जाग्रत हुई। फलस्वरूप उनमें जो सुप्त साहित्यकार था, वह जाग उठा।

हिमालय के इस भव्य-दिव्य दर्शन से और वहां जो चिन्तन, मनन, ध्यान, साधना निरीक्षण किया उससे उनका आंतरिक जीवन बहुत समृद्ध हुआ। जो मंत्र साधना की उससे भी उन्हें खूब शांति मिली।

किन्तु देश के लिए मर-मिटना चाहिए, यह जो भावना ठेठ बचपन में मन में जाग्रत हुई थी, उसने यहां उन्हें चैन से बैठने नहीं दिया। वह लगातार उन्हें कोसती रही कि जब तक देश मुक्त नहीं हुआ है, अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करना एक तरह का स्वच्छन्द है। राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही देश की मुक्ति की पूर्वतैयारी हो सकती है, यह विचार किसी तरह उनके दिमाग से हट न सका। फलस्वरूप, हमेशा के लिए हिमालय में रहने का उनका संकल्प धीरे-धीरे शिथिल होता गया। विचारों ने भी कई पलटे खाये। श्रीरामकृष्ण मिशन के संन्यासियों की रूढ़ियां देखकर संन्यास आश्रम के बारे में उनका पहले के जैसा आग्रह नहीं रहा। वे फिर से अपनी अध्यापन की प्रिय प्रवृत्ति की ओर मुड़ने की सोचने लगे। किन्तु सोचा, किसी एक जगह बैठकर शिक्षा के नये प्रयोग शुरू कर दूं, उससे पहले देश में जगह-जगह शिक्षा के जो अलग-अलग प्रयोग चल रहे हैं, उनका निरीक्षण करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से वे पहले कांगड़ी में आर्य समाजी लोगों द्वारा चलाये जाने वाले गुरुकुल में जाकर कुछ महीने रहे। आर्य समाजियों से प्रेरणा पाकर सनातनियों ने हरिद्वार के पास एक ऋषिकुल शुरू किया था। उसमें भी कुछ महीने मुख्य अधिष्ठाता के रूप में काम किया। कुछ दिन उन्होंने वैष्णवों के आचार्यकुल में बिताये। वृन्दावन में भारत भक्त राजा महेन्द्र प्रताप का प्रेम महाविद्यालय चल रहा था, उसमें भी कुछ दिन काम किया।

ठीक उसी समय उनके हाथ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की "गीतांजलि" पड़ी। "मार्डन रिव्यू" में उन्होंने इससे पहले रवीन्द्रनाथ के कुछ लेख पढ़े थे। एक बड़े मननशील चिन्तक के रूप में वे उनकी ओर देखते आए थे। पर गीतांजलि ने उन्हें रवीन्द्रनाथ का दूसरा परिचय करा दिया। रवीन्द्रनाथ में

उन्हे राजनीतिक स्वराज्य और सांस्कृतिक स्वराज्य दोनों का समन्वय देखने को मिला, जिससे उनकी आध्यात्मिकता की पूरी भूमिका ही बदल गयी।

रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन में शिक्षा का एक अभिनव प्रयोग चला रहे थे। काकासाहब को उत्कटता के साथ यह महसूस होने लगा कि कुछ दिन शांतिनिकेतन में भी उन्हें बिताने चाहिए और उनके प्रयोगों का आंतर-बाह्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

शांतिनिकेतन

मुजफ्फरपुर में जीवतराम कृपलानी से मिलने गये थे। वहां से लौटते समय काकासाहब शांतिनिकेतन देखने गये। उस समय रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन में थे। उनसे मिलकर उन्होंने अध्यात्म, स्वराज्य और शिक्षा के बारे में बातें कीं। फलस्वरूप वे इस नतीजे पर आ पहुंचे कि रवीन्द्रनाथ न केवल एक बड़े कवि हैं, बल्कि एक बड़े साधक भी हैं, और दुनिया के बड़े से बड़े शिक्षा-शास्त्रियों में से एक हैं।

उन्होंने रवीन्द्रनाथ को एक पत्र लिखा "मैं माडर्न रिव्यू के लेखक रवीन्द्रनाथ को पहले से जानता था। उसके बाद गीतांजलि के कवि रवीन्द्रनाथ का परिचय हुआ। अभी शांतिनिकेतन में आपसे मिलकर मैं शिक्षा-शास्त्री रवीन्द्रनाथ को पहचान सका। आपकी संस्था में चार-छह महीने रहकर आपके शिक्षा संबंधी प्रयोगों का आंतर-बाह्य अनुभव लेने की इच्छा अब मुझमें जागृत हुई है। मैं इतना धनवान नहीं हूं कि अपना खर्च मैं खुद उठा सकूं, और इतना गरीब भी नहीं कि आपसे मैं वेतन मांग लूं। मुझे आप विद्यार्थियों के बीच रहने की और खाने की सुविधा उपलब्ध करा दीजिए। फिर, जो काम आप देंगे, वह मैं करता रहूंगा।"

इसके बाद उन्होंने पत्र में और कुछ पंक्तियां जोड़ दीं, "सार्वजनिक संस्थाओं का थोड़ा बहुत अनुभव मुझे है। अवैतनिक शिक्षक अक्सर अव्यवस्थित होते हैं, और कभी-कभी गैर-जिम्मेदारी से भी पेश आते हैं। इसलिए मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि जब तक मैं शांतिनिकेतन में रहूंगा, संस्था के नियमों और आदर्शों का कठोरतापूर्वक पालन करूंगा।"

रवीन्द्रनाथ का जवाब आया : "सुस्वागतम् ! तुरंत आ जाइए।"

और काकासाहब शांतिनिकेतन गये। उन्होंने अपने लिए ब्रह्मचारी दत्तात्रेय नाम धारण कर लिया था। रवीन्द्रनाथ ने इस नाम में थोड़ा बदल कर लिया और उन्होंने दत्तूबाबू के नाम से उन्हें पुकारना शुरू कर दिया। दत्तूबाबू को

रवीन्द्रनाथ ने श्रौत पद्धति से (डायरेक्ट मैथड्स से) बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने का काम सौंपा। खुले आकाश के नीचे किसी पेड़ की छांव में वे बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने लगे। और खुद उसी पद्धति से बांग्ला भाषा सीखने लगे। थोड़े ही दिनों में वे मूल बांग्ला में रवीन्द्रनाथ का साहित्य पढ़ने लगे। पहली उन की कविता पढ़ी, फिर गीत पढ़े। कई गीत तो स्वयं रवीन्द्रनाथ के कंठ से सुने। गोरा, नौकाडूबी, चोखेरबाली जैसे उपन्यास पढ़ डाले। फिर, स्वदेश, समूह जैसे निबंधों के संग्रह पढ़े। रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा से वे काफी प्रभावित हुए।

हर बुधवार को शांतिनिकेतन के प्रार्थना मन्दिर में उपासना चलती थी। उपासना में रवीन्द्रनाथ एक प्रवचन पढ़ते थे। काकासाहब नियमित रूप से यहां हाजिर रहते थे। प्रवचन में रवीन्द्रनाथ क्या कहते हैं, यह शुरू-शुरू में उनकी समझ में नहीं आता था। केवल कोकिल कंठ रवीन्द्रनाथ के बांग्ला वाक्यों का उच्चारण सुनने का ही उन्हें आनन्द मिलता था। रवीन्द्रनाथ का बोलने का ढंग, उच्चारण के आरोह-अवरोह और पूरे प्रवचन की तालबद्धता सब उन्हें आकर्षक लगा, बहुत पसन्द आया। अर्थ समझ में नहीं आता था, इसीलिए ध्वनि की माधुर्य की ओर तथा बोलने के ढंग की ओर उनका विशेष ध्यान गया।

धीरे-धीरे रवीन्द्रनाथ के पास बैठकर तरह-तरह के विषयों पर चर्चा करना शुरू कर दिया। एक बार ऐसी ही एक चर्चा में रवीन्द्रनाथ ने उनसे कहा, "मेरी साधना जीवन-साधना है। वह भी कवि की साधना है। मैं मायावादी नहीं हूं। मेरे लिए पूरी सृष्टि सत्य है। मैं जो देखता हूं, सुनता हूं, अनुभव करता हूं सब सत्य है, चैतन्यमय है। ईश्वर के दर्शन भी मैं अपने आसपास की सृष्टि में ही करता हूं। ईश्वर आनन्द रूप है। उसका ही यह आविष्कार है। मेरी जीवन दृष्टि इसी में विकसित हुई है। मेरे शिक्षा के प्रयोग भी इसी साधना के एक अंग हैं।"

काकासाहब को लगा, मानो "मेरी ही जीवन-दृष्टि रवीन्द्रनाथ अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त कर रहे हैं।" इससे रवीन्द्रनाथ के प्रति उनका आकर्षण अधिक गहरा हुआ। रवीन्द्रनाथ की जीवन-देवता की संकल्पना और उपासना की ओर उनका विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट हुआ।

थोड़े ही दिनों में काकासाहब शांतिनिकेतन के वातावरण में पूरे घुल मिल गये। अपना हृदय उन्होंने रवीन्द्रनाथ को दे दिया था। एक दिन रवीन्द्रनाथ ने उनसे कहा, "मेरे पास बंगाली विद्वान काफी हैं। चाहूं तो बड़े-बड़े विद्वानों को मैं यहां बुला सकता हूं। पर जो थोड़े महीने आपने यहां काम किया

और विद्यार्थियों के बीच जो वातावरण आपने निर्माण किया उसे देखकर मैं आपको शांतिनिकेतन के स्थायी व्यवस्थापक के रूप में यहां रखना चाहता हूं। क्या आप यहां स्थायी रूप में रहना स्वीकार करेंगे ?"

स्वयं रवीन्द्रनाथ के मुंह से इस तरह की प्रशस्ति सुनकर काकासाहब को हर्ष हुआ हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है। काकासाहब ने कृतकृत्य होकर उन्हें जवाब दिया "मैं बड़ी खुशी के साथ यह जिम्मेदारी अपने सिर पर उठा लूंगा। पर आपको शायद मालूम नहीं है कि मैं शादी-शुदा हूं। मेरे दो छोटे बेटे भी हैं। उनकी ओर पीठ करके मैं हिमालय में साधना के लिए चला गया था। अब अगर शांतिनिकेतन में स्थायी रूप में रहूं तो मुझे उन लोगों को यहां बुलाना होगा।"

"बुला लीजिए" रवीन्द्रनाथ ने जवाब दिया और कहा "शांतिनिकेतन की भूमि पर आप जहां चाहें वहां आपके लिए मैं एक छोटी-सी स्वतंत्र कुटिया बनवा दूँगा। आप जगह पसंद कर लीजिए।"

काकासाहब को शांतिनिकेतन का सब कुछ पसंद था। पर एक बात उन्हें हमेशा चुभती आयी थी। उन्हें लगा कि यह बात रवीन्द्रनाथ के सामने दिल खोलकर रखने का यह अच्छा अवसर है, इसलिए उन्होंने कहा "एक ही बात है जो मुझे चुभती है। वह मैं आपके सामने निःसंकोच भाव से रख देता हूं। यहां की शिक्षा पूरी-पूरी राष्ट्रीय होते हुए भी आप यहां के बच्चों को कलकत्ता की मैट्रिकुलेशन के लिए तैयार करते हैं इससे मुझे थोड़ी कुछ हिच-किचाहट महसूस होती है।"

रवीन्द्रनाथ उनकी अड़चन समझ गये। उन्होंने कहा, "आप विधुशेखर बाबू से मिलिए। हम इस भूमि पर विश्व भारती नामक एक संस्था खोलने जा रहे हैं। उसमें शामिल होने में आपको कोई संकोच नहीं होना चाहिए।"

काकासाहब विधुशेखर शास्त्री से मिले। उनसे चर्चा करके विश्व-भारती में शामिल होने की बात लगभग निश्चित कर ली। ठीक इसी समय दो बातें हुईं—

एक, दक्षिण अफ्रीका से विजयी वीर के रूप में लौटे हुए गांधीजी से उनकी मुलाकात हुई और दूसरी, महाराष्ट्र के एक व्यक्ति को बंगालियों की एक संस्था में एक महत्त्व के स्थान पर बैठाया जा रहा है, इससे रवीन्द्रनाथ के कुछ निकटवर्ती साथियों में असंतोष फैला हुआ है, ऐसी कुछ गुनगुनाहट उनके कानों पर आ पड़ी।

गांधीजी से भेंट

सन् 1907 में सूरत के अधिवेशन में कांग्रेस में फूट पड़ी थी और कांग्रेस के

नौजवान क्रियाशील सदस्य उससे अलग हो गए थे। फलस्वरूप कांग्रेस निष्प्राण हो गयी थी। सशस्त्र क्रांति के रूप में जो बगावत शुरू हुई थी, उसका नामो-निशान भी कहीं दिखाई नहीं देता था। उसे अंग्रेजों ने सफलतापूर्वक कुचल डाला था। बिपिनचन्द्र पाल निर्माल्य से हो गये थे। लाला लाजपतराय अमरीका में थे। लोकमान्य तिलक छह साल की लम्बी सजा भुगतकर अभी-अभी मंडाले से लौट आए थे। पर उनमें पहले के जैसा जोश दिखाई नहीं देता था। बाबू अरविंद घोष राजनीति छोड़कर पांडिचेरी में आध्यात्मिक साधना में लीन हो गये थे। देश के राजनीतिक वातावरण में निराशा का अंधेरा फैला हुआ था।

ऐसे समय पर दक्षिण अफ्रीका का अपना कार्य सफलतापूर्वक पूरा करके गांधीजी स्वदेश लौट आए। इससे चार माह पहले उनका फिनिक्स आश्रम यहां आया था और शांतिनिकेतन में वह अतिथि के रूप में रह रहा था। इसके सदस्यों की रहन-सहन, आहार-विहार, पढ़ाई-सधाई शांतिनिकेतन से अलग प्रकार की थी। वे अपने आदर्शों और नियमों के अनुसार ही यहां रहते थे। और रवीन्द्रनाथ ने उन्हें यहां वैसे ही रहने दिया था। यह फिनिक्स आश्रम चलाने का भार तपोधन मगनलाल गांधी के सिर पर था।

दोनों ओर के व्यवस्थापकों की सम्मति से काकासाहब इस नये आश्रम में शामिल हुए। उन्होंने गांधीजी के बारे में पहले कुछ पढ़ा था, सुना भी था। अब मगनलाल गांधी के मुंह से उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की बातें विस्तार पूर्वक सुन लीं। उन्हें सुनते-सुनते उनके रोंगटे खड़े हुए। उन्हें लगा, यह तो मानो वीर गाथा है। सत्याग्रह लोक-जागृति का एक प्रभावी साधन तो है ही, पर सशस्त्र क्रांति का एक पूरा विकल्प भी सिद्ध हो सकता है। परंपरागत सशस्त्र क्रांति के मार्ग की विफलता का अनुभव काकासाहब ले चुके थे। कम से कम अपने देश के लिए वह काम का नहीं है, इस नतीजे पर आ पहुंचे थे। आजकल वे यही सोच रहे थे कि देश के सामान्य लोगों में जो गहरी धर्म भावना है, उसकी जड़ता कैसे दूर करें; उसमें क्षात्रतेज कैसे निर्माण करें और विविधता में बंटी हुई क्षीण राष्ट्रभावना को एकाग्र और तेजस्वी कैसे करें। इस विषय में उनका चिंतन हिमालय की यात्रा में भी चल रहा था। आजकल तो वह और भी विशेष गहराई के साथ चलने लगा था। गांधीजी के प्रयोगों की गाथा सुनते सुनते उनको लगा कि इनके पास ऐसा कुछ है जो देश में नव जागरण निर्माण कर सकता है। मगनलाल गांधी ने उन्हें गांधीजी की पुस्तक "हिन्द स्वराज्य" पढ़ने को दी। इस पुस्तक का काकासाहब के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसमें उन्हें एक संपूर्ण जीवन दर्शन समाया हुआ दिखाई दिया। यही नहीं, उनको यह

भी लगा कि इसकी बुनियाद पर शिक्षा का एक समग्र और स्वतंत्र तंत्र भी खड़ा किया जा सकता है।

लगभग चार महीनों के बाद जब गांधीजी शांतिनिकेतन में आए, काकासाहब ने उन्हें अक्षरशः हजारों प्रश्न पूछे। सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह के बारे में प्रश्न तो पूछे ही, पर कई अटपटे प्रश्न भी पूछे। पाखाने से लेकर परमेश्वर तक के सभी विषयों की गहराई के साथ चर्चा की। काकासाहब पूछते रहे और गांधीजी जवाब देते रहे। करीब एक सप्ताह तक उनका यह उपनिषद चला। अंत में काकासाहब को विश्वास हुआ कि गांधीजी से हम सहमत हों या न हों, इन्होंने जीवन के सभी प्रश्नों का गहराई के साथ चिंतन किया है। गांधीजी में राष्ट्रीयता है, आध्यात्मिकता है, कार्यकुशलता है, नम्रता जितनी है उतना ही लोकोत्तर आत्मविश्वास भी है। कृपालानीजी मुजफ्फरपुर में थे। वहां की एक कॉलेज में इतिहास पढ़ाते थे। उनको तार करके काकासाहब ने बुला लिया। कृपालानीजी ने भी गांधीजी को "नापने परखने के लिए" हजारों प्रश्न पूछे। कृपालानीजी को राजनीति में अधिक रुचि थी। इसलिए सबसे ज्यादा इसी विषय को लेकर उन्होंने चर्चा चलायी। जिस एक बात की ओर काकासाहब और कृपालानीजी तुरंत आकृष्ट हुए, वह थी गांधीजी के स्वभाव की तीव्रता। दोनों को लगा कि यह एक ऐसा शख्स है, जो अपने मार्ग से कतई डिगने वाला नहीं है; जो मार्ग उसने अपनाया है, वह सही मार्ग है इस तरह की उसकी प्रतीति रही तो इस मार्ग से जरूरत पड़ने पर अकेले चलने की भी यह हिम्मत रखता है।

अहिंसा से स्वराज्य पाने की बात चली तब कृपालानीजी ने गांधीजी से कहा "आप जानते हैं कि मैं इतिहास का प्रोफेसर हूं। दुनिया के अब तक के ज्ञात इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जहां किसी देश ने अहिंसा से स्वराज्य पाया हो।" तब गांधीजी ने मुस्करा कर नम्रता से पर उतने ही आत्मविश्वास के साथ उन्हें जवाब दिया, "आप इतिहास पढ़ाने वाले हैं, मैं इतिहास बनाने वाला हूं।"

यह जवाब सुनकर काकासाहब और कृपालानीजी दोनों उसी क्षण पूरे गांधीजी के हो गये। उनको लगा कि यह केवल एक महापुरुष ही नहीं, बल्कि एक युग-पुरुष है, जो हजार-दो हजार साल के बाद ही एकाध-बार जन्म लेता है। काकासाहब के लिए यह जीवन की सबसे बड़ी खोज थी।

शांतिनिकेतन से विदा

शांतिनिकेतन के रसोईघर में रोटी नहीं बनती थी। चावल ही ज्यादा पकता

था। काकासाहब की राय थी कि खुराक में चावल कम और गेहूं की रोटी ज्यादा होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने वहां एक छोटा-सा 'भोजन सुधार मंडल' चलाया था, जिसमें कुछ अध्यापक और विद्यार्थी शामिल हुए थे। वे अपनी अलग रसोई बनाते थे। बर्तन भी अपने हाथों से मांजते थे।

गांधीजी का ध्यान इस ओर गया तब उन्होंने काकासाहब को बधाई दी और कहा, "यह प्रयोग सीमित क्यों रहे, इसे शांतिनिकेतन व्यापी क्यों न बनाया जाय ?" उन्होंने संस्था के व्यवस्थापकों से पूछा, "यहां रसोईये और नौकर मिलकर कितने लोग काम करते हैं ?"

"पैंतीस" उन्हें जवाब मिला।

"इन सबको छुट्टी दे दीजिए। रसोई घर का सारा काम विद्यार्थी और शिक्षक मिलकर करेंगे।"

उन दिनों रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन में नहीं थे, कहीं बाहर गये थे। इसलिए व्यवस्थापक कुछ दिग्मूढ़ से हो गये। गांधीजी को ना कहने की हिम्मत नहीं चली। तिस पर अंड्रूयूज और पियर्सन जैसे रवीन्द्रनाथ के वरिष्ठ साथी इस सुधार में गांधीजी के पक्ष में शामिल हो गये थे। इसलिए भी वे खामोश रहे। गांधीजी ने विद्यार्थियों से पूछा, "क्या रसोई घर का सारा काम तुम सब मिल कर करोगे ?" उत्साह में आकर उन्होंने हां कह किया। अब सवाल था इस सुधार की जिम्मेदारी कौन उठा ले। काकासाहेब से उन्होंने पूछा, "आप लेंगे ?" काकासाहब ने इन्कार कर दिया और कहा, "संस्था न आपकी है, न मेरी। जिनकी है वह गुरूदेव इस समय यहां नहीं हैं। उनकी अनुपस्थिति में आप यहां इतना बड़ा उत्पात क्यों करने जा रहे हैं ?" पर गांधीजी पर इस दलील का कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने इधर-उधर देखा। इतने में काकासाहब के एक साथी हरिहर शर्मा ने आगे आकर कहा, "मैं यह जिम्मेदारी उठा लूंगा।" काकासाहब ने कहा, "जिम्मेदारी अगर शर्माजी उठाते हैं, तो उन्हें मदद करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। मैं उन्हें जरूर मदद करूंगा।"

काकासाहब ने अपना भोजन सुधार मंडल इस बड़े प्रयोग में विसर्जित कर दिया और बड़ी लगन के साथ वे इस नये प्रयोग में लग गये।

चार छह दिनों के बाद गांधीजी ब्रह्मदेश जाने के लिए निकल पड़े। तब हरिहर शर्मा भी उनके साथ हो लिए। काकासाहब को गुस्सा आया। उन्होंने गांधीजी से कहा, "सुधार की जिम्मेदारी तो इन्होंने उठायी थी। मैं तो उन्हें केवल मदद करता था। अब वे आपके साथ ब्रह्मदेश कैसे जा सकते हैं ?"

गांधीजी ने ठंडे दिल से जवाब दिया "वे मेरे साथ आयेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि आप इसे संभाल लेंगे।" काकासाहब को चुपचाप प्रयोग की 'जिम्मेदारी

उठानी पड़ी। लगभग 40 दिन तक यह प्रयोग चलता रहा। इस बीच रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन लौट आए थे। उन्हें यह प्रयोग बहुत पसंद आया। "इससे हम बंगालियों को ही लाभ होगा", कहकर उन्होंने इसे आशीर्वाद भी दिया।

इतने में गर्मी की छुट्टियां आयीं और सभी अपने-अपने घर चले गये। पर इस बीच एक महत्व ही घटना घटी। काकासाहब को विश्वभारती में महत्व के स्थान पर बिठाने के रवीन्द्रनाथ के निर्णय से जो नाराज हुए थे, उनमें से एक आदरणीय सज्जन ने काकासाहब के पास एक संदेश भेजा "आप यह न भूलें कि आप महाराष्ट्रीय हैं। हमारे साथी नहीं, बल्कि मेहमान हैं। एक बंगाली संस्था में एक महाराष्ट्रीय अपना राज्य चलाए यह उचित नहीं है।"

काकासाहब इस तरह की कोई बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे। वे अपने को प्रांतीयता की भावना से परे मानते आए थे। उनके मन में किसी भी प्रकार का प्रांतीय भेदभाव नहीं था। इसीलिए तो शांतिनिकेतन के साथ वे बिल्कुल एकरूप हो गये थे। यहां जो भी कुछ करते थे, मुख्याध्यापक की इजाजत लेकर ही करते थे। फिर हम बंगाली हैं, आप महाराष्ट्रीय हैं, यह भावना यहां उठ ही कैसे पायी ? और किसी सामान्य संस्था में ऐसी बात उठती तो वह समझ में आती। पर यह तो रवीन्द्रनाथ की संस्था थी। केवल बंगाली संस्था नहीं, भारतीय भी नहीं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संस्था थी। यहां यह प्रांतीय भेदभाव कैसा ? उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उस दिन उन्हें सारी रात नींद नहीं आयी। उसी रात उन्होंने दो निश्चय किए। एक, अब तो इस संस्था में नहीं रहूंगा और दूसरा, कहीं पर भी जाऊं, किसी अधिकार के स्थान पर नहीं बैठूंगा। सामान्य सेवक के रूप में ही अपनी सेवाएं अर्पित करूंगा।

दूसरे दिन वे रवीन्द्रनाथ से मिलने गये। कहा, "आप जानते हैं कि मैंने अपना हृदय आपको अर्पित किया है। मैं यहां रहूं या और कहीं जाऊं, हमेशा आपका ही रहूंगा। पर इस बीच यहां इस भूमि मे गांधीजी से मेरी भेंट हुई। आप जानते हैं कि मैं सब कुछ छोड़कर हिमालय में चला गया था। अध्यात्म साधना की उत्कंठा इतनी तीव्र थी कि मैं हिमालय में ही रह जाता। पर स्वराज्य के संकल्प ने मुझे वहां रहने नहीं दिया। वह मुझे वापस खींच लाया। गांधीजी से मिलने के बाद मुझे लगा कि मेरा यह संकल्प उनके साथ रहने से पूर्ण होगा। स्वराज्य वे जल्दी ला देंगे, इसलिए उनके पास जाने की इच्छा हुई है।"

रवीन्द्रनाथ ने 'अच्छा है' कहकर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया।

काकासाहब को यह मालूम नहीं था कि स्वयं गांधीजी ने रवीन्द्रनाथ से उनकी

मांग की थी और "दत्तू बाबू की सेवायें मैं आपको लोन में दे सकता हूं", कहकर उन्होंने काकासाहब को ले जाने की गांधीजी को अनुमति दी थी।

पांच साल बाद अहमदाबाद में गुजरात साहित्य परिषद् का अधिवेशन हुआ, तब रवीन्द्रनाथ वहां सम्मानित अतिथि के रूप में पधारे थे, और गांधीजी के साथ साबरमती आश्रम में ही ठहरे थे। दत्तूबाबू इस समय पूरे-पूरे आश्रमवासी बन चुके थे। उन्हें देखकर रवीन्द्रनाथ ने गांधीजी से विनोद में कहा, "आपने मुझसे जो उधार लिया था उसे लौटाने की आपकी दानत नहीं दिखती।" तभी सब को इस मांग का पता चला।

रवीन्द्रनाथ की सम्मति मिलते ही काकासाहब ने शांतिनिकेतन से विदा ली।

शांतिनिकेतन से विदा होकर पहले उन्होंने कृपलानीजी के साथ ब्रह्मदेश की यात्रा की। बाद में सिंध में कृपलानीजी के आश्रम में कुछ दिन बिता कर वे बड़ौदा गये। बड़ौदा से तीन मील दूर सयाजीपुरा नामक एक गांव में उनके दीक्षागुरु केशवराव देशपांडे ग्राम-सेवा का काम करते थे। उन्हें मदद करते रहे। उनकी अनुमति लेकर ही उन्हें गांधीजी के पास जाना था। संयोग से उसी साल बंबई में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वहां प्रार्थना समाज के पास मारवाड़ी विद्यालय में गांधीजी ठहरे थे। काकासाहब भी उन दिनों बंबई गये थे। गांधीजी से मिलने वे रोज मारवाड़ी विद्यालय में जाते थे और उनके पास घंटों बैठे रहते थे। एक दिन गांधीजी के बड़े पुत्र हरिलालभाई ने काकासाहब से पूछा, "काका, शांतिनिकेतन में आप हम लोगों के साथ इतने घुलमिल गये थे कि हमने माना था कि आश्रम खुलते ही सबसे पहले आप उसमें शामिल हो जायेंगे। कितनी आश्चर्य की बात है कि आप अब तक वहां नहीं पहुंचे।"

"आपकी बात सही है।" काकासाहब ने उन्हें जवाब दिया। "पर एक बात आप नहीं जानते; मैं बापूजी से मिला, उससे पहले देशपांडे साहब के साथ काम करता था। वे बड़ौदा में ग्राम सेवा का काम लेकर बैठे हैं। उन्हें कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। मेरी सेवा पर उनका पहला हक है। आप ही बताइए कि मैं पुराना नेता छोड़कर नया नेता कर लूं और पुराने नेता को नये कार्यकर्ता ढूंढ़ने पडे यह कहां तक उचित है?"

गांधीजी पास में ही बैठे थे। कुछ लिख रहे थे। उन्होंने दोनों के बीच का यह संवाद सुना। खुश होकर बोले, "काका, आपकी बात सोना-मुहर जैसी है। देश के सेवक अगर ऐसी निष्ठा रखें तो स्वराज्य दूर नहीं।"

कुछ दिनों के बाद केशवरावजी के नाम गांधीजी का एक पत्र गया। "आप

काका का कोई विशेष उपयोग करते हैं, ऐसा मालूम नहीं होता। मुझे उनकी सेवाओं की जरूरत है। आश्रम में मैं एक राष्ट्रीय शाला खोल रहा हूं। आप काका को यहां भेज देंगे तो मुझे बड़ी खुशी होगी।" केशवराव जी ने यह पत्र काकासाहब को दिखाया और कहा "इतने बड़े पुरुष मांग कर रहे हैं, तो जाना चाहिए। आश्रम को गंगनाथ ही समझ कर काम करो।"

दो एक दिनों के बाद स्वयं केशवरावजी काकासाहब को लेकर आश्रम में गये और उन्हें गांधीजी को सौंप कर लौटे। काकासाहब को लगा, मानों "लंबी यात्रा के बाद अब मैं मंजिल पर पहुंच गया हूं।" अपनी अब तक की साधना के फलस्वरूप उन्हें गांधीजी मिले हैं, इसी भावना के साथ उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया।

4. आधुनिक गुजरात के निर्माता

आश्रम की शाला में

काकासाहब ने आश्रम में प्रवेश किया उस समय वह अहमदाबाद के पास कोचरब में किराये के एक मकान में चलता था। ठीक उन्हीं दिनों आश्रम में एक हरिजन परिवार दाखिल हुआ था और छुआछूत के प्रश्न को लेकर आश्रम की महिलाओं में चकचक शुरू हो गई थी। यहां तक कि कस्तूरबा से भी गांधी जी को कहना पड़ा था कि आश्रम में छुआछूत चल नहीं सकती। अगर तुम्हें यह भेदभाव रखना है तो तुम राजकोट जाकर रहो। मेरे साथ रह नहीं सकती। ऐसे वातावरण में काकासाहब अपनी पत्नी काकी को और शंकर तथा बाल दोनों बेटों को लेकर आश्रम आए थे। काकी के मन में स्पृश्य अस्पृश्य भेदभाव नहीं है, उन्हें हरिजनों के साथ रहने में और उनके हाथ का खाने-पीने में कोई एतराज नहीं है, यह जब गांधीजी को मालूम हुआ, वे बड़े खुश हुए और काकी की बड़ी इज्जत करने लगे। कुछ समय के बाद आश्रम कोचरब से हटा कर साबरमती के किनारे लाया गया। आश्रम के लिए अपनी निजी जमीन और अपने निजी मकान आवश्यक थे। इसके लिए अनेक स्थान सोचे गए और अंत में साबरमती के किनारे पर का स्थान पसंद किया गया। यह स्थान देखने के लिए जिस दन गांधीजी गए थे, काकासाहब उनके साथ थे। जमीन पसंद होते ही उसे समतल करने का काम आरंभ हुआ तब पहला फावड़ा काका-साहब ने ही मारा। तुरंत अंबालाल साराभाई के यहां से एक बड़ा तम्बू, एक बड़ा शामियाना और कई रावटियां मंगवा कर आश्रम बाकायदा शुरू भी कर दिया गया। गांधीजी ने काकासाहब को आश्रम की शाला सौंप दी। शुरू-शुरू में इस शाला में आश्रमवासियों के बच्चे ही पढ़ते थे। थोड़े ही दिनों में आश्रम के निजी मकान बने। तब बाहर के बच्चों को भी लेना तय हुआ। उनके लिए एक छात्रालय भी खोला गया। शिक्षक मंडली में काकासाहब के अलावा

विनोबा थे, किशोरलाल मश्रूवाला थे, नरहरिभाई परीख, जुगतीराम दवे, ऐसे कई विद्वान और प्रतिभावान शिक्षक गांधीजी ने इकट्ठा कर लिए थे। इन शिक्षकों ने आपस में विषय बांट लिए थे। वे अभ्यासक्रम बनाते, समय पत्रक भी बनाते। पर कोई लकीर के फकीर नहीं थे। किसी विषय में रंग चढ़ा तो विद्यार्थियों की जिज्ञासा तृप्त करने के लिए चाहे जितने घंटे उस विषय के लिए दे देते। काकासाहब भूगोल पढ़ाते थे पर वे खगोलविद् भी थे। कभी रात को, तो कभी सुबह पांच बजे, वे तारा दर्शन के वर्ग चलाते थे। बच्चों का जीवन रसिक कैसे बने, और ज्ञानानंद में वे अधिक से अधिक मग्न कैसे रहें इस बात की वे जिस प्रकार फिक्र रखते थे, उसी प्रकार उनके चारित्र्य की गठन की भी फिक्र रखते थे। विनोबा संस्कृत और गणित पढ़ाते थे। पर उन्हें इससे भी अधिक दिलचस्पी सर्दी, धूप, नींद, भूख और स्वाद पर विद्यार्थी कैसे विजय प्राप्त करें, इस विषय में थी। वे बच्चों को लेकर सुबह साबरमती के तट पर जाते और उन्हें नदी में तैरना सिखाते। कभी विद्यार्थियों को लेकर पैदल यात्रा पर निकल पड़ते।

इतने बड़े विद्वान और प्रतिभावान शिक्षक दुनिया की शायद ही किसी प्राथमिक शाला के विद्यार्थियों को मिले होंगे। देश में जो परंपरागत शिक्षा प्रणाली चलती आई थी, वह पढ़ना, लिखना और गिनना इन तीन बातों में ही सीमित रही थी। आश्रम की शाला में इन तीनों बातों के अलावा दिमाग, दिल और हाथ पांव की—हेड, हार्ट एंड हैंड की शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इसलिए गणित, भूगोल या संस्कृत की तरह पखाना सफाई करना, बर्तन मांजना, रोटियां बेलना, साग सब्जी काटना, खेती करना, यह भी शिक्षा के विषय माने गए थे। जब चरखे की खोज की गई तब कातना और बुनना भी शिक्षा के विषय बन गए थे।

गांधीजी ने शुरू में ही काकासाहब को कह दिया था, "शाला भले ही आश्रम की मानी जाती हो, असल में वह आपकी और आपके साथियों की है।" शिक्षा का माध्यम गुजराती भाषा था। काकासाहब गुजराती समझ तो लेते थे, पर बोलना नहीं जानते थे। इसलिए शुरू-शुरू में उन्हें अपनी टूटी फूटी गुजराती में ही काम लेना पड़ा।

धीरे-धीरे वे गुजराती बोलने भी लग गए। उन्होंने हिमालय में ढाई हजार मैल की यात्रा की थी। इस यात्रा के कई रोचक अनुभव दिल में संग्रहित हुए थे। इन अनुभवों को विद्यार्थियों के दिमाग में और दिल तक पहुंचाने की उनकी उत्कंठा जैसी-जैसी बढ़ती गई, उनकी गुजराती भाषा भी सुधरती गई। यही नहीं, गुजराती भाषा उन पर प्रसन्न होती गई और अपनी खूबियां उनके

सामने प्रकट करती रही। इस प्रक्रिया का नतीजा यह हुआ कि उनमें जो रसिक साहित्यकार था, जो हिमालय से लौटने के बाद जागृत हुआ था, उसने यहां अपना सिर ऊंचा किया। स्वयं काकासाहब के लिए यह एक नई खोज थी। फिर किसी विद्यार्थी की खास शक्तियों का दर्शन होते ही जिस प्रकार उन शक्तियों के विकास की ओर वे विशेष ध्यान देते आए थे, उसी प्रकार अपने में प्रकट हुए इस साहित्यकार के विकास की ओर भी वे गहरी दिलचस्पी लेने लगे। इस प्रक्रिया में गांधीजी ने भी अपने ढंग से हाथ बंटाया। एक दिन काकासाहब को उन्होंने उमर खय्याम की रूबायतों का फिट्जेराल्ड कृत अंग्रेजी अनुवाद पढ़ते देखा और कहा "मुझे अंग्रेजी कविता का बड़ा ही शौक था, मगर मैंने सोचा कि अंग्रेजी कविता पढ़ने का मुझे क्या अधिकार है? मेरे पास अगर खाली समय है तो मैं अपनी गुजराती लिखने की योग्यता क्यों न बढ़ाऊं? मुझे देश की सेवा करनी है, तो अपना सारा समय सेवा शक्ति बढ़ाने में ही लगाना चाहिए।" काकासाहब समझ गए। उनके लिए इतना काफी था। उसी क्षण उन्होंने निश्चय किया कि जब तक गुजराती अच्छी नहीं आती, कोई अंग्रेजी पुस्तक मैं नहीं पढ़ूंगा। इस निश्चय का मुख्य लाभ यह हुआ कि जिस लगन से पहले वे कोश में अंग्रेजी शब्द ढूंढ़ते थे और हरेक शब्द की प्रकृति और खूबी समझने की कोशिश करते थे, वह लगन उन्होंने गुजराती की ओर मोड़ दी। कुछ दिनों में वे गुजराती के एक बड़े लेखक ही नहीं, उसके बड़े समर्थक भी बन गए। बड़े जोर शोर के साथ प्रचार करने लगे कि अंग्रेजी भाषा के सामने हमारी देशी भाषाएं कमजोर हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। अंग्रेजी लोगों के पुरुषार्थ के कारण ही अंग्रेजी साहित्य समृद्ध हो सका है। प्रजा संस्कारी और पुरुषार्थी हो तो प्रजा की सेवा करते-करते हम गुजराती साहित्य को भी अंग्रेजी के जितना ही समृद्ध बना सकते हैं। अंग्रेजी साहित्य की समृद्धि देखकर हमें उसके दास बनने की जरूरत नहीं है। अंग्रेजों से प्रेरणा पाकर उनकी तरह पुरुषार्थ करने की महत्वाकांक्षा हम रखें तो देखते ही देखते गुजराती साहित्य समृद्ध हो जायेगा।

एक महाराष्ट्रीय नया-नया गुजराती सीखता है और गुजरात की संस्कारिता के बारे में बोल कर उसके पुरुषार्थ को आह्वान करता है यह देखकर सुशिक्षित गुजरात उनकी बहुत बड़ी कद्र करने लगा।

काकासाहब की अनेक विषयों में रुचि और गति थी। कॉलेज की पढ़ाई के दरम्यान ही उन्होंने अपना एक जीवन सूत्र बना लिया था कि ज्ञान मात्र मेरा क्षेत्र है (ऑल नालेज इज माई प्राविन्स)। फलस्वरूप वे अनेक विषयों की जानकारी रखते थे। फिर अनेकानेक प्रश्नों पर स्वतंत्र ढंग से सोचने का

और उनके बारे में अपना मौलिक मत बनाने का उन्हें अभ्यास था। इसलिए वे जो कुछ बोलते या लिखते लिखवाते, वह उनके आसपास के लोगों को—विद्यार्थियों और साथियों को—हमेशा नया-नया सा और मौलिक प्रतीत होता था। उन्होंने अपने विद्यार्थियों में भूगोल खगोल के अलावा भारत का प्राचीन इतिहास, उसकी संस्कृति, उसके धर्म, उसकी स्मृतियां, उसकी राजनीति, अर्थ-नीति ऐसे कई विषयों की छूत फैला दी। उनके आसपास के लोगों पर उनकी किस प्रकार की छाप थी, इसका कुछ ख्याल उनके एक साथी किशोरलाल मश्रूवाला के कथन से स्पष्ट होता है। किशोरलालभाई लिखते हैं: "मैं 1917 के जून में गांधीजी की राष्ट्रीय शाला में सम्मिलित हुआ। थोड़े ही समय में मुझे मालूम पड़ गया कि अपने काम के अनुरूप ज्ञान कोश (इन्साई-क्लोपीडिया) की खोज के लिए मुझे कहीं भटकने की जरूरत नहीं है। काका साहब जीते जागते ज्ञाननिधि थे। कोश में भी आवश्यक जानकारी का पता लगाने की जरूरत होती है। उसमें बहुत मगजपच्ची करनी पड़ती है। जीता जागता कोश पास में हो तो खोजने वाले के लिए ऐसी परेशानी की जरूरत नहीं। वहां तो सिर्फ पूछने भर की आवश्यकता होती है।"

ज्ञाननिधि के रूप में काकासाहब की जो ख्याति उस समय फैली थी, वह हमेशा बनी रही।

आश्रम की शाला में उन्होंने जो शिक्षा के प्रयोग किए, उन्हीं में से उनका अपना एक शिक्षाशास्त्र भी विकसित हुआ। वे लिखते हैं:

"देश के धार्मिक जीवन में जैसे-जैसे परिवर्तन होते गए और इसके फलस्वरूप राजनैतिक जीवन में जैसी-जैसी उत्कटता आती गई, वैसे-वैसे शिक्षा के मेरे प्रयोगों में भी बदल होते रहे। अगर किसी एक विषय का मैंने सबसे अधिक गहराई के साथ चिन्तन किया हो, तो वह केवल शिक्षा का ही किया है। मेरे सभी रस शिक्षा के प्रति जीवन निष्ठा को परिपोष करने के लिए ही हैं। मेरा शिक्षाशास्त्र मेरे इन प्रयोगों में से ही धीरे-धीरे विकसित हुआ है।"

जो शिक्षा प्रणाली बाद में "बुनियादी शिक्षा" के नाम से विख्यात हुई, उसके आविष्कार और विकास में साबरमती आश्रम की इस राष्ट्रीय शाला के प्रयोगों का काफी बड़ा योगदान रहा है।

आश्रम के प्रारम्भ के दिनों में

गांधीजी काकासाहब के लिए अपने जीवन की एक बड़ी खोज थी। उन्हीं के कथनानुसार "उन्हें ढूंढ़ निकालने में उन्होंने अपनी सारी मौलिकता खर्च कर डाली थी।" अब जब काकासाहब उनके आश्रम में सम्मिलित हुए और उनके

घनिष्ट संपर्क में आए, वे अपनी इस खोज की ओर विशेष गहराई के साथ देखने लगे। गांधीजी ने इस बीच चम्पारण में सत्याग्रह का एक सफल प्रयोग करके दिखाया था। खेड़ा में और अहमदाबाद के मिल मजदूरों की हड़ताल में भी उन्होंने अहिंसा की तेजस्विता प्रकट करके दिखाई थी। यह प्रयोग भले ही छोटे पैमाने पर किए गए हों, उन्होंने देश के सभी तेजस्वी लोगों का ध्यान गांधीजी की ओर खींच लिया था। सत्याग्रह के विषय में जो थोड़ी दुविधाएं काकासाहब के मन में रह गयी थीं, वह सभी इन प्रयोगों को देखकर दूर हो गयीं।

आश्रम में गांधीजी ने अपने साथियों के सामने एकादश व्रतों का आदर्श रखा था। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, शरीर-श्रम, स्वदेशी, स्पर्शभावना, सर्व-धर्म-समभाव और अभय—यह वह एकादश व्रत थे। काकासाहब ने पहले अपने को किसी भी व्रत में बांधने से इन्कार कर दिया था। पर, जैसे-जैसे गांधीजी के इन व्रतों के बारे में वे सोचने लगे, उन्हें इन व्रतों में हिन्दुधर्म की एक परिशुद्ध और युगानुकूल नई आवृत्ति दिखाई देने लगी। यही नहीं, इन ग्यारह व्रतों की बुनियाद पर दुनिया के सभी धर्मों को इस देश में एक दूसरे के नजदीक लाया जा सकता है, यह भी उन्हें उत्कटता के साथ महसूस होने लगा। गौर करने पर उनके ध्यान में यह भी आया कि यह ग्यारह व्रत जीवन के वही शाश्वत मूल्य हैं, जिन पर सामाजिक चरित्र निर्भर रहता है। जो नैतिक मूल्य हम समाज में प्रस्थापित हुए देखना चाहते हैं, उनकी देश-सेवकों के जीवन में व्रत की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। जितनी उत्कटता के साथ देश सेवक इन व्रतों का पालन करेंगे, उतने ही अनुपात में समाज का नैतिक स्तर ऊपर आएगा। इन ग्यारह व्रतों के द्वारा देश का नैतिक स्तर—जो इस समय काफी गिरा हुआ था, ऊपर लाने का एक संपूर्ण कार्यक्रम इनमें भरा हुआ उन्हें दिखाई दिया। गांधीजी की जीवनदृष्टि समझने की कोशिश करते-करते यह जीवनदृष्टि काकासाहब की अपनी जीवनदृष्टि बन गयी। वे सभी प्रश्नों की ओर इस नई दृष्टि से देखने लगे। मित्रों को कभी-कभी लगता था, काकासाहब अपनी मौलिकता छोड़कर गांधीजी के अंध अनुयायी तो नहीं बन गए हैं!

लोकमान्य मंडाले से लौटकर आए थे। राजनीति में काकासाहब अपने को लोकमान्य के ही अनुयायी मानते आए थे। पर अब जब गांधीजी की तेजस्विता, राष्ट्र-भक्ति और चरित्र-शुद्धि पर वे मुग्ध हो गए, उनको यह महसूस होने लगा कि अगर लोकमान्य और गांधीजी एक दूसरे को पहचान सकें और एक साथ काम कर सकें तो देश का बहुत बड़ा काम होगा। वे दोनों को एकत्र

लाने की कोशिश में लग गए। गंगाधरराव देशपांडे लोकमान्य के दाहिने हाथ माने जाते थे और काकासाहब गंगाधररावजी के आत्मीय थे। बेलगांव में प्रांतीय पोलिटिकल कान्फ्रेस का आयोजन हुआ था। इस अवसर पर काकासाहब के आग्रह से गंगाधररावजी ने ऐसा एक प्रबंध किया जिससे सम्मेलन में लोकमान्य और गांधीजी दोनों उपस्थित रह सकें, और दोनों बिल्कुल एकांत में एक दूसरे से मिल सकें। दोनों बेलगांव में एक दूसरे से मिले। लगभग डेढ़ घंटे तक दोनों के बीच बातचीत चलती रही। बाद में कमरे के बाहर आकर लोकमान्य ने गंगाधररावजी से कहा, "यह आदमी हमारा नहीं है, इसका मार्ग भिन्न है। पर वह पूरा सच्चा है। हमें इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि कहीं भी इसके साथ हमारा विरोध न हो। जहां तक हो सके उसकी हमें मदद ही करनी चाहिए।"

लोकमान्य की गांधीजी के विषय में यह राय जब गंगाधररावजी ने काकासाहब को बताई, तो उन्हें लगा, "भले ही लोकमान्य गांधीजी के साथ काम न कर सकें, पर उन्हें अनुकूल तो हो गये हैं।"

उन दिनों गांधीजी की देश भर यात्रायें चलती थीं। पर, जब वे आश्रम में आ जाते, काकासाहब उनसे समय मांग लेते और तरह-तरह की समस्याओं को लेकर उनसे चर्चा करते। आसपास की दुनिया समझती थी कि काकासाहब गांधीजी के अंध अनुयायी बन गए हैं। पर, गांधीजी देख रहे थे कि काकासाहब बिल्कुल स्वतंत्र विचार के हैं। जो भी स्वीकार करते हैं जांच परखने के बाद ही स्वीकारते हैं।

काकी तो काकासाहब से भी अधिक स्वतंत्र विचार की थीं। जब रसोई में किसी की मदद लेनी पड़ती, तब काकासाहब आग्रह पूर्वक किसी अंत्यज की मदद लेते और काकी वह मंजूर करतीं। काकासाहब ने एक अंत्यज बच्चे को अपने यहां लाकर रखा था और काकी उसका अपने ही बेटे की तरह पालन-पोषण करती थीं। इन सब बातों की गांधीजी को बड़ी कद्र थी। इसलिए, जब काकी किसी प्रश्न को लेकर अपना मतभेद व्यक्त करतीं तब गांधीजी काकी से मिलने उनके यहां आते और काकी के रसोई घर में बैठ कर अपनी बात उन्हें समझाते रहते।

ऐसी ही एक महत्व की बहस उन दोनों के बीच शुरू-शुरू के दिनों में हुई— यूरोप में उन दिनों पहला महायुद्ध चल रहा था और अंग्रेज इस युद्ध में भारत के लोगों की मदद चाहते थे। इसलिए वाइसराय ने कई पक्षों के नेताओं को दिल्ली में निमंत्रित करके बुलाया था। गांधीजी को भी निमंत्रण था। गांधीजी उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्य के साथ पूरे विच्छेद के पक्ष में नहीं थे। वे कहते

थे कि हम चाहें या न चाहें, इस साम्राज्य के हम नागरिक हैं। यह हकीकत है। और हकीकत का इन्कार करना उचित नहीं है। अपनी तेजस्विता छोड़े बिना हम इस साम्राज्य को संकट के समय मदद कर सकते हैं। उनकी यह भूमिका थी। इसलिए उन्होंने सरकार को मदद देने का वचन दिया। गुजरात में रंगरूट भरती करने का काम उन्होंने अपने सिर पर लिया। और रंगरूट भरती का आरंभ आश्रम से ही किया। काकासाहब ने कहा, "आपकी भूमिका मुझे पसंद नहीं है। पर, आप हमारे नेता हैं। आप वाईसराय को वचन दे चुके हैं। इस वचन का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। इसलिए मैं अपना नाम दर्ज कर देता हूं।"

उन्होंने अपना नाम दर्ज कर दिया।

काकी को जब यह खबर मिली, वह गुस्से से आग-बबूला हो उठीं। बोलीं "क्या काकासाहब अंग्रेजों के पक्ष में लड़ेंगे ? मैं तो ऐसी बात सुन भी नहीं सकती। इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। मैं उन्हें जाने नहीं दूंगी।"

गांधीजी को काकी के गुस्से की जानकारी मिली, तब वे अपनी भूमिका उन्हें समझाने उनके घर गये। काकी बोलीं, "आप यह न मानें कि मैं कायर हूं। काकासाहब कॉलेज में पढ़ते थे और अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्रों में शामिल हुए थे, तभी से मैंने यह समझ लिया है कि वे एक न एक दिन पकड़े जायेंगे और संभवत: फांसी के तख्त पर भी लटकाये जायेंगे। तभी से मैं अपने मन को यह भी समझाती आयी हूं कि एक न एक दिन मुझे विधवा होने की तैयारी में रहना होगा। आज भी आप अगर उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने भेज देंगे, तो मैं न आपको रोकूंगी और न उनको। उन्हें खुशी से जाने दूंगी। यही नहीं, अंग्रेजों के विरुद्ध में लड़ने के लिए मैं अपने दोनों बेटों को भी भेज दूंगी। अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते-लड़ते पति और बेटे अपना प्राण खो दें तो भी नहीं रोऊंगी। पर, यह क्या ? अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए काकासाहब जायेंगे ? यह कैसे हो सकता है ? मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। मेरे लिए यह असह्य है।"

गांधीजी ने उन्हें लाख समझाया। पर काकी ने उनकी एक भी न मानी। यह बात अलग है कि काकासाहब को अंग्रेजों के पक्ष में लड़ना ही नहीं पड़ा। क्योंकि परिस्थिति बदल गयी थी। जर्मनों का पक्ष निर्बल हो गया था और अंग्रेजों को अब भारतीयों की मदद की जरूरत नहीं थी।

असहयोग के दिनों में

1919-20 में भारत के इतिहास में एक नये और बिल्कुल अनोखे युग का

प्रारंभ हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य से भी बड़ा और खतरनाक जो दूसरा साम्राज्य —डर का साम्राज्य—देश में दृढ़मूल हुआ था, उसे भारतीय जनता ने इन दो वर्षों में जड़मूल से उखाड़कर फेंक दिया। अब छोटा-सा बच्चा भी ब्रिटिश राज्य को शैतानी राज्य कहकर खुले आम देश में घूम सकता था।

यह करामात गांधीजी के अनोखे व्यक्तित्व की और उनके उतने ही निराले तरीके की थी।

यूरोप के युद्ध समाप्ति के बाद सरकार ने दो बिल बनाये थे, जो रौलेट बिल कहलाये जाते हैं। इन बिलों के अनुसार राज्य के विरुद्ध अपराध करने का जिस पर संदेह हो उसे सरकार गिरफ्तार कर सकती थी। और उसे जेल में लगातार रोक सकती थी। यानी युद्ध-काल की आपात-स्थिति में जो सुरक्षा कानून बनाये गये थे, उन्हें शांति-काल में सरकार स्थायी रूप देना चाहती थी।

इन अन्यायपूर्ण बिलों के विरुद्ध में गांधीजी ने देश के सामने एक कार्यक्रम रखा, जो सविनय अवज्ञा के नाम से पहचाना जाता है। उन्होंने लोगों से कहा, "पहले यह प्रतिज्ञा करो कि सरकार जब तक इन बिलों को वापिस नहीं लेती, हम उन्हें मानने से नम्रतापूर्वक इन्कार कर देंगे। इसके बाद एक दिन के लिए अपना सारा कामकाज बन्द रखो। हड़ताल करो और उस दिन उपवास रखो और प्रार्थना करो।"

बिल्कुल आसान कार्यक्रम था। देश का छोटे-से-छोटा आदमी वह अमल में ला सकता था। इसको अमल में लाने के लिए न वकील बनने की आवश्यकता थी, न भाषण देने की योग्यता की थी। न ही गुप्तता की शपथ लेकर बम फेंकने की जरूरत थी। दिल में स्वराज्य की तमन्ना हो और उसे खुले आम प्रकट करने की हिम्मत हो, बस इतना ही पर्याप्त था। कोई भी आदमी वह अमल में ला सकता था। इस से पहले किसी भी राष्ट्रीय नेता ने देश के सामने ऐसा कोई कार्यक्रम रखा नहीं था, जिसमें छोटे-सा-छोटा आदमी भी अपना योगदान दे सके। गांधीजी ही पहले नेता थे जिन्होंने ऐसा कार्यक्रम लोगों को दिया था। फलस्वरूप, समूचे देश ने गांधी जी का साथ दिया।

देखते ही देखते गांधीजी के हृदय का तार राष्ट्र-हृदय के तार के साथ एक-राग हो गया। और गांधीजी देश के सबसे प्रभावशाली नेता के रूप में आगे आए।

इस सविनय कानून भंग के तुरंत बाद गांधीजी ने देश के सामने दूसरा एक कार्यक्रम रखा, जो "असहयोग" के नाम से पहचाना जाता है। यह कार्यक्रम भी सीधा सरल और आसान था। इस कार्यक्रम के द्वारा गांधीजी ने लोगों से यह

उम्मीद रखी थी कि वे सरकारी उपाधियों और पदों को छोड़ दें। सरकारी दरबारों स्वागत समारोहों और उत्सवों में हिस्सा लेने से इन्कार कर दें। सरकारी नौकरियां छोड़ दें। सरकारी अदालतों और स्कूल कालेजों का बहिष्कार करें। कौन्सिलों के चुनाव पर और सभी प्रकार के विदेशी माल पर बहिष्कार डालें। ऊपर-ऊपर से देखने पर यह कार्यक्रम नकारात्मक सा मालूम होता था। पर असल में वह रचनात्मक कार्यक्रम था। क्योंकि जहां कुछ तोड़ा जा रहा था, वहां नया भी कुछ निर्माण हो रहा था। अदालतों की जगह पंचायतें खड़ी होती थीं। सरकारी स्कूलों, कॉलेजों की जगह राष्ट्रीय शालायें और विद्यापीठ खड़े होते थे। विदेशी वस्त्र और माल के बहिष्कार के साथ-साथ खादी और ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। जागृत जनता के परस्पर सहयोग से एक तरह की समान्तर सरकार स्थापना करने का यह एक बड़ा ही प्रभावशाली कार्यक्रम था। गांधीजी इस कार्यक्रम को लेकर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमकर लोगों से कहने लगे—सरकार से सहयोग देने से साफ इन्कार कर दो। हिम्मत के साथ सरकार से संपूर्ण असहयोग करो। खुले आम कह दो : "हमें आप जेल में रखें या फांसी पर लटका दें, हमारा सहयोग आपको नहीं मिलेगा। हमारा सहयोग आपको सिर्फ जेलों में या फांसी के तख्त पर मिलेगा।"

इस असहयोग के कार्यक्रम में भी देश ने गांधीजी को पूरा साथ दिया। यहां तक कि लोकमान्य जैसे नेता, जो इस कार्यक्रम की ओर कुछ संदेह से देखते थे, कहने लगे थे कि गांधीजी को अगर इस कार्यक्रम में सफलता मिली तो मुझे उनके हाथ के नीचे रहकर काम करना पड़ेगा और मैं वह खुशी से करूंगा। (आई शैल हैव टू प्ले ए सेकंड फिड्ल टू हिम एण्ड आई शैल डू इट) गंगाधरराव देशपांडे ने अपनी आत्मकथा में यह बताया है।

फलस्वरूप प्रार्थना, अनुनय, विनय, निवेदन, निषेध के दिन एकाएक खत्म हो गये। देश के इतिहास में साहस और बलिदान का एक नया अध्याय शुरू हो गया। इस असहयोग के आंदोलन में एक लोकोत्तर सेनानी के रूप में गांधीजी के व्यक्तित्व का जो पहलू उभर आया उसे देखकर काकासाहब को गहराई के साथ यह महसूस होने लगा कि गांधीजी के व्यक्तित्व के इस पहलू की ओर अपने पुराने क्रांतिकारी काल के साथियों का ध्यान खींचना अपना कर्त्तव्य है। उन्हें गांधीजी की युद्ध-नीति क्रांतिकारी लोगों की परिभाषा में ही समझा देनी चाहिए। अतः उन्होंने स्वयंस्फूर्ति से यह काम करना शुरू कर दिया। वे समझाने लगे, "देखिए, यह जैन परंपरा की अहिंसा नहीं है, न ही यह वैष्णवों की परंपरा की है। यह अहिंसा का नया अवतार है। यह बिल्कुल अनोखी,

आम जनता में—बालकों और स्त्रियों में भी क्षात्र तेज प्रकट करने वाली अहिंसा है। इसकी खूबी अगर हम समझ न सके तो हम क्रांतिकारी नहीं हैं। मारकाट और खून खराबी के संस्कार हमारी जनता में हैं ही नहीं। इसे आप हमारी जनता का स्वभाव कहें, चाहे ढीलापन कहें, चाहे हमारी संस्कृति की ऊंचाई कहें। स्वभाव स्वभाव ही है। इस स्वभाव में गांधीजी हमारी संस्कृति की महत्ता देखते हैं, इसलिए अपनी जनता की संस्कृति के अनुरूप उन्होंने लड़ाई का यह नया तरीका खोज निकाला है। यह मार्ग चाहे श्रेष्ठ हो, चाहे न हो, हमारी जनता के लिए वह अनुकूल है इतना तो सिद्ध हो ही चुका है। इसलिए हम क्रांतिकारी जो न कर सके वह गांधीजी ने करके दिखाया। वे सारे देश को लड़ने की प्रेरणा दे सके। हमारी जनता में क्षात्र तेज जगा सके। किसी की हत्या किए बिना, किसी मकान को जलाये बिना, किसी पुल को उड़ा दिए बिना सरकार का काम बिल्कुल रोक देना क्या मामूली बात है ?"

काकासाहब की दलीलों का कइयों पर असर हुआ। कई तो पुराना रास्ता छोड़ कर बिल्कुल गांधीजी के बन गये।

जिन लोगों का मत परिवर्तन करने में काकासाहब सफल हुए उनमें एक थे गंगाधरराव देशपांडे। वे लोकमान्य के दाहिने हाथ माने जाते थे। उन्होंने पूना में लोकमान्य के मुख्यालय गायकवाड-वाडे में जाकर जाहिर किया "मैं अब बदल गया हूं। पूरा पूरा गांधीजी का हो गया हूं। काकासाहब ने मेरा मत परिवर्तन किया है।" तब से काकासाहब गांधी विचार और गांधी-नीति के समर्थ भाष्यकार के रूप में महाराष्ट्र और गुजरात में पहचाने जाने लगे।

यहां इतना जोड़ देना आवश्यक है कि गंगाधरराव देशपांडे जैसे प्रभावशाली साथी को गांधी सम्प्रदाय में खींचकर ले जाने का काकासाहब ने जो "अपराध" किया, उसे पूना के तिलक पंथी लोग कभी भूल न सके। न ही वे काकासाहब को क्षमा कर सके। गंगाधररावजी का मत-परिवर्तन देखने के लिए लोकमान्य नहीं थे। असहयोग के आरंभ में ही वे चल बसे थे।

गुजरात विद्यापीठ की स्थापना

असहयोग आंदोलन के दरमियान—सन् 1920 के अगस्त में अहमदाबाद में गुजरात राज्य परिषद का चौथा अधिवेशन हुआ। इसमें इंदुलाल याज्ञिक के आग्रह से गुजरात के लिए गुजरात विद्यापीठ नामक एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय स्थापन करने का प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए परिषद ने जो समिति बनायी, उसमें गुजरात के नौ-प्रमुख नेताओं के साथ सत्याग्रह आश्रम की राष्ट्रीयशाला के काकासाहब, किशोरलालभाई मश्रूवाला और नरहरिभाई

परीख इन तीन शिक्षकों का समावेश किया गया। इतनी जल्दी विद्यापीठ स्थापन करने के पक्ष में काकासाहब नहीं थे। नीचे से काम करते-करते धीरे-धीरे ऊपर पहुंचकर शिखर के रूप में विद्यापीठ स्थापित करनी चाहिए, इस राय के वे थे। किशोरलालभाई और नरहरिभाई भी उनसे सहमत थे। पर जब देखा कि जनता में उत्साह है और परिषद ने भी उत्साह में आकर सर्वानुमति से समिति नियुक्त की है, तब पीछे हटना तीनों के स्वभाव में नहीं था। काकासाहब ने इसे जनता की आज्ञा माना और उसे शिरोधार्य मानकर किशोरलालभाई के साथ उन्होंने सारे गुजरात का भ्रमण किया। खूब प्रचार करके गुजरात की शिक्षा संस्थाओं का सहयोग प्राप्त किया और दो-एक महीनों के अन्दर गुजरात विद्यापीठ की स्थापना भी कर डाली। असहयोग की नीति के अनुसार जनता की एक स्वतंत्र युनिवर्सिटी स्थापन करने का काम इस प्रकार सर्वप्रथम गुजरात ने ही किया। काकासाहब, किशोरलालभाई और नरहरिभाई तीनों ने मिलकर विद्यापीठ का विधान बनाया। विधान बनाते समय लगभग सभी नए शब्द काकासाहब ने ढूंढ़े। उनमें से कई शब्द सर्वथा नवनिर्मित थे। काकासाहब की शब्द-रचना-शक्ति का विद्यापीठ की परिभाषा में पहली ही बार परिचय मिला। कुमार-मंदिर, विज्ञ-मंदिर, विनीत, स्नातक, समिति, नियामक-सभा, निधिप मंडल, अन्वेषक, ध्यानमंत्र आदि शब्द जो हमें चिरपरिचित से लगते हैं, सभी काकासाहब के बनाए हुए नए शब्द हैं।[1] विद्यापीठ का ध्यान मंत्र 'सा विद्या या विमुक्तये' और विद्यापीठ की मुहर पर अंकित वटवृक्ष तथा कमल भी काकासाहब की ही सूझ के परिणाम हैं। विधान की धारा उपधाराओं की भाषा संवारने में काकासाहब ने किशोरलालभाई के साथ काफी परिश्रम किया। विधान का मसविदा जब गांधीजी के पास भेजा गया, उन्हें वह बहुत पसंद आया। लगभग उसी रूप में उन्होंने उसे मंजूर किया। और राष्ट्रीय शिक्षा मंडल ने भी उसे ज्यों का त्यों पारित कर दिया।

विद्यापीठ की स्थापना के प्रारम्भ में ही संचालकों के सामने एक महत्व का प्रश्न उपस्थित हुआ : क्या यह विद्यापीठ गुजराती है या अखिल भारतीय स्वरूप का है ? चूंकि वह जनता के द्वारा स्थापित पहला ही राष्ट्रीय विद्यापीठ था, इसलिए कइयों का आग्रह था कि इसका स्वरूप अखिल भारतीय ही होना चाहिए। यही नहीं, इसका माध्यम भी हिन्दी ही होना चाहिए।

सरकारी कालेजों का बहिष्कार करके जो विद्यार्थी बाहर आए थे, उनकी परीक्षाएं लेकर उन्हें उपाधियां देने का काम विद्यापीठ ने शुरू में ही किया

---

1. काकासाहब के बनाए हुए पर्यायी शब्दों की फेहरिस्त परिशिष्ट 1 में देखिए।

था। ये विद्यार्थी केवल गुजरात के नहीं थे। गुजरात के बाहर के कई प्रदेशों के भी थे। इसलिए भी कइयों का अभिप्राय था कि विद्यापीठ का स्वरूप अखिल भारतीय रहे यही उचित है।

काकासाहब कहने लगे, विद्यापीठ का शिक्षा विषयक आदर्श तो अखिल भारतीय ही होगा। पर इसका माध्यम गुजराती ही होना चाहिए। क्योंकि इसको मुख्य रूप में गुजरात की सेवा करनी है। इसके अनुकरण में दूसरे प्रदेशों में जगह-जगह राष्ट्रीय विद्यापीठ खोले जायेंगे। खोले जाने भी चाहिए। उनके लिए एक आदर्श हमें यहां पेश करना है। सभी प्रदेशों के विद्यापीठों का माध्यम उनकी प्रादेशिक भाषाएं ही होंगी। होनी भी चाहिए। किसी भी प्रदेश में उसकी प्रमुख प्रादेशिक भाषा को हमें दुय्यम स्थान पर रहने नहीं देना चाहिए। प्रमुख स्थान का उसका अधिकार हमें मंजूर करना चाहिए। इस नीति को लेकर हम गुजरात विद्यापीठ में नीचे से ऊपर तक द्वितीय भाषा के तौर पर हिन्दी को अत्यंत आदर का स्थान देंगे। अंग्रेजी के लिए भी एक कोना सुरक्षित रखेंगे, क्योंकि वह भी अत्यन्त उपयोगी और सर्वत्र फैली हुई एक समर्थ भाषा है। पर गुजरात विद्यापीठ का शिक्षा का वाहन तो नीचे से ऊपर तक गुजराती ही होगा।

बहुमती हिन्दी के समर्थकों की थी। पर काकासाहब अपने आग्रह में अड़िग रहे। अंतिम निर्णय के लिए मामला जब गांधीजी के पास गया तब गांधीजी ने फैसला दिया : "काका जो कहते हैं वही दुरूस्त है। गुजरात विद्यापीठ का माध्यम गुजराती ही रहेगा। गुजरात के बाहर का जो विद्यार्थी इस विद्यापीठ में पढ़ेगा, उसे भी गुजराती में ही पढ़ना होगा। गुजराती के बाद हिन्दी आयेगी और हिन्दी के बाद अंग्रेजी आयेगी।"

दिल्ली के रामजस कालेज के एक प्रोफेसर असूदमल गिडवानी प्रिंसिपल के तौर पर बुलाए गए। और विद्यापीठ बाकायदा शुरू हुआ।

विद्यार्थी और अध्यापक सभी हाल ही में सरकारी कालेजों का बहिष्कार करके आए थे। इसलिए सभी उत्साह में और मस्ती में थे। एक नई और विशाल दुनिया उनके सामने खुल गई थी। विद्यार्थियों और अध्यापकों के बीच एक निकट का सजीव संबंध भी प्रस्थापित हुआ था। अभ्यासक्रम राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं और राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप बनाया गया था। काकासाहब कई विषय पढ़ाते थे। कभी अर्थशास्त्र तो कभी प्राचीन इतिहास, कभी धर्मशास्त्र तो कभी उपनिषद। बंगला भाषा के लिए कोई अध्यापक नहीं आया, तब तक काकासाहब ही बंगला भाषा पढ़ाते थे।

पर उनके इन सब वर्गों से विशेष महत्व के थे काकासाहब के प्रार्थना प्रवचन।

विद्यारंभ के पहले वहां रोज प्रार्थना हुआ करती थी। प्रार्थना के बाद काकासाहब का छोटा सा प्रवचन होता था। विद्यार्थियों को यह प्रवचन हमेशा प्रेरणादायक प्रतीत होता था। इसलिए जो विद्यार्थी प्रार्थना में मानते नहीं थे, वे भी इन प्रवचनों के आकर्षण से प्रार्थना में हाजिर रहते थे। काकासाहब के यह प्रवचन बहुत ही प्रभावशाली हुआ करते थे। राष्ट्र-निर्माण की उत्कट लगन जिसे लगी हो, ऐसे एक देशभक्त की मूर्ति से वे मालूम होते थे।

विद्यापीठ की दो प्रवृतियां ऐसी थीं, जिनमें काकासाहब को विशेष रुचि थी। एक था, विद्यालय का पुस्तकालय और दूसरा, उसका पुरातत्त्व मंदिर। पुस्तकालय के बारे में गांधीजी ने उनसे कहा था कि आक्सफोर्ड के बोडिलियन पुस्तकालय के जैसा वह होना चाहिए। काकासाहब का भी वही आदर्श था। पुरातत्त्व मंदिर के बारे में उनका अपना आदर्श था। भारतीय संस्कृति के गहरे अध्ययन के लिए उन्हें सब तरह के साधन इकट्ठा करने थे। और उसे प्राच्यविद्या खोज का देश का सबसे बढ़िया केन्द्र बनाना था। इस काम में मौलिक योगदान दे सकें ऐसे पंडित सुखलालजी, मुनि जनविजयजी, पंडित बेचरदास दोशी और पंडित धर्मानन्द कोसंबी जैसे विद्वानों को वे पुरातत्व मंदिर में ले आये थे। इनमें से पहले तीन जैन संस्कृति के विद्वान थे, तो अंतिम बौद्ध विद्या के प्रकाण्ड पंडित थे।

विद्यापीठ का कार्य यों तो अच्छी तरह चलता रहा। पर दुर्भाग्यवश उसके संचालकों में एकरसता नहीं रह पाई। उनके बीच खींचातानी शुरू हुई। इस वातावरण में काकासाहब को लगा, इससे तो आश्रम में लौट जाना ही अच्छा है। उन्होंने गांधीजी से कहा, गुजरात की जनता ने सेवा मांगी थी, और आपकी आज्ञा थी इसलिए मैं विद्यापीठ की स्थापना में पड़ा। पर अब लगता है, यह काम मेरे बिना भी चल सकता है। गिडवानीजी अपने ढंग से वह चला भी रहे हैं। मेरा काम वहां नहीं, बल्कि आश्रम में है। गांधीजी ने इजाजत दी तब काकासाहब, किशोरलालभाई और नरहरिभाई तीनों विद्यापीठ से मुक्त होकर आश्रम की शाला में लौट आये।

पर तीनों विद्यापीठ से पूर्ण रूप से अलग नहीं हुए। काकासाहब उसकी नियामक समिति के सदस्य बने रहे। पुरातत्त्व मंदिर की समिति में भी रहे, और उसके कार्य में दिलचस्पी भी लेते रहे। विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ तो उनका संबंध बराबर बना रहा। आश्रम में रहने पर भी वे हमेशा विद्यापीठ के विद्यार्थियों और अध्यापकों से घिरे रहते। उनको सलाह देते, प्रेरणा देते, मदद करते। वे एक तरह से समूचे गुजरात के नौजवानों के मित्र, शिक्षक और सलाहकार बन गये थे। व्यक्तिगत बातचीत और पत्र व्यवहार के माध्यम से वे गुजरात की एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित करते रहे।

5. नवजीवन के लेखक

अपने विचारों और गतिविधियों से लोगों को परिचित रखने के लिए गांधी जी ने दो साप्ताहिक पत्रिकाएं चलाना शुरू किया था। एक थी, अंग्रेजी में 'यंग इंडिया' और दूसरी, गुजराती में 'नवजीवन'।

स्वामी आनंद इनके व्यवस्थापक थे, जो काकासाहब के पुराने मित्र थे और उन्हीं के पीछे-पीछे आश्रम में शामिल हुए थे। स्वामी और काकासाहब दोनों का संबंध इतना निकट का था कि दोनों में से कोई एक जो प्रवृति शुरू कर देता, वह अपने आप दोनों की हो जाती थी। 'नवजीवन' के लिए गांधीजी नियमित रूप से लेख भेज देते थे। महादेवभाई भी भेजते रहते। पर जब मैटर कम पड़ती, स्वामी काकासाहब से लेख की मांग करते। और काकासाहब कुछ न कुछ लिखवाकर भेज देते। स्वामी की मांग को काकासाहब हुक्म मानते। स्वामी कहते थे, "एक हुक्म की कुदाली मारी नहीं कि काका की खान से रत्न निकल पड़ते हैं।" शुरू-शुरू में काकासाहब को भाषा की दिक्कत रहती थी। पर वे अपनी टूटी फूटी गुजराती में लिखवाते रहते और स्वामी उसे सुधारकर लिख लेते।

काकासाहब गुजराती में लिखने लगे, इसका श्रेय दो को जाता है। एक आश्रम के विद्यार्थियों को, जिन्होंने उन्हें भाषा की खूबियां सिखाईं। और दूसरा, स्वामी आनंद को, जिन्होंने उन्हें लिखने के लिए प्रवृत किया। काकासाहब के ही शब्दों में "जिन्होंने उनका आत्मविश्वास बढ़ाया।" वैसे 1917 से ही गुजराती में उनके लेख छपने लगे थे, किन्तु 1920 के बाद ही स्वतन्त्र रूप से वे गुजराती में लिखने लगे। उस वर्ष गुजराती साहित्य परिषद का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ था। और उसमें रवीन्द्रनाथ मुख्य अतिथि के रूप में पधारे थे। उस समय काकासाहब ने रवीन्द्रनाथ के विभूतिमत्व के संबंध में एक लम्बा लेख गुजराती में लिखवाया था। यही उनकी कलम से निकला हुआ प्रथम गुजराती

लेख कहा जा सकता है। इससे पहले उनके नाम से जो भी लेख गुजराती में प्रकाशित हुए, वे मूल मराठी में लिखे गए थे और किसी ने उसका गुजराती में अनुवाद कर लिया था।

इन्हीं दिनों उन्होंने अपनी हिमालय की यात्रा के संस्मरण भी लिखवाना शुरू किया था। सबसे पहले यह संस्मरण आश्रम की हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। बाद में जब वह 'हिमालय नो प्रवास' के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए, गुजराती के एक सशक्त लेखक के रूप में काकासाहब प्रतिष्ठित हुए।

1922 में गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें छह साल की सजा दी गई। तब नवजीवन चलाने की जिम्मेदारी स्वामी आनंद पर आ पड़ी। स्वामी काकासाहब पर निर्भर थे। निश्चिन्त भी थे। कुछ समय के बाद स्वामी भी गिरफ्तार कर लिए गए। तब प्रजा के जोश को टिकाने बढ़ाने की जिम्मेदारी काकासाहब ने अपने सिर पर ली। उन्होंने नवजीवन अपने हाथ में ले लिया। 4 जून 1922 के अंक में उनका पहला अग्रलेख प्रकाशित हुआ। तब से लेकर 1923 के फरवरी के अंत तक उन्होंने नवजीवन में अपने साप्ताहिक लेखों की मानो बाढ़ सी लगा दी। महादेवभाई लिखते हैं—

"उन्होंने इससे पहले बीच-बीच में अपने लेखों द्वारा चमकना शुरू किया था। एक बार श्रीमत शंकराचार्य के दिन दहाड़े मशालें जलाकर अभियान पर निकलने के ढोंग का भंडाफोड़ बंदूक की गोली से भी अधिक प्रभावशाली अपने रूपकों द्वारा उन्होंने कर दिया था। उसे देखकर मुझे (फ्रांसीसी विचारक) दिदेरो याद आया था।···नागपुर कांग्रेस के समय कर्णाटक के प्रतिनिधियों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए लगातार सात घंटों तक बोलते हुए और सबके मुंह बंद करते हुए भी मैंने उन्हें देखा है। परन्तु गांधीजी के जेल जाने तक उन्होंने बोलने की अपनी इस शक्ति का भी संयम कर रखा था। गांधीजी के जेल जाने के बाद गुजरात पर उनका ऐसा प्रभाव पड़ा मानों विचारों का कोई ज्वालामुखी फट पड़ा हो। मैं जहां कहीं गया, लोगों से ऐसी ही बातें सुनी।··· मैं जब जेल से निकल आया, तब काका मुझसे बम्बई में मिले। कहने लगे, मैं आजकल अपने बारे में बहुत बोलने लग गया हूं। मैंने पिछले वर्ष की 'नवजीवन' की फाइल देखी। काका के लेखों को देखकर लगा कि उनका कहना सही है। वह लेखों द्वारा अपने विषय में जितना बोल रहे हैं, उतना चार वर्ष पहले नहीं बोलते थे। फिर तो 'वसंत' देखा 'धर्मयुग' देखा, 'साबरमती', 'पुरातत्व', 'बालमित्र', देखा—जहां देखूं वहां काका का वसंत खिला हुआ था।···"

इस समय की काकासाहब की रचनाएं अत्यन्त ओजस्विनी और उतनी ही विपुल रही हैं। स्वातंत्र्य और देशप्रेम से उद्दीप्त काकासाहब की पहचान गुजरात को पहले पहल इन्हीं लेखों द्वारा हुई। कवि उमाशंकर जोशी कहते हैं. "मालूम होता है कि काकासाहब के जीवन की यह सुवर्ण घड़ी (गोल्डन अवर) थी।"

राजनीति में काकासाहब को विशेष रुचि नहीं थी। पर, गया में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें वे 'नवजीवन' के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित रहे थे। वहां चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य से उनकी दोस्ती हुई। और राजाजी उन्हें मद्रास की ओर ले गए। इन दिनों कौंसिलों में कांग्रेस प्रवेश करे या न करे इस प्रश्न को लेकर कांग्रेस में गरमागरम बहस चल रही थी। मोतीलालजी, दास बाबू जैसे नेता कौंसिल प्रवेश के पक्ष में थे। तो राजाजी जैसे नेता इस प्रवेश के विरोध में थे। काकासाहब का झुकाव राजाजी के पक्ष की ओर था। पर दक्षिण में यह बहस और एक संदर्भ में चलने लगी थी। उत्तर भारत में जिस प्रकार राष्ट्र के हिन्दू समाज और मुसलमान समाज ऐसे दो हिस्से हो गए थे, वैसे दक्षिण भारत में ब्राह्मण समाज और अ-ब्राह्मण समाज जैसे दो विभाग परस्पर विरुद्ध में खड़े थे। शिक्षा, राजनीति और सामाजिक सुधार में ब्राह्मण आगे थे। उनकी बुद्धि भी तेजस्वी थी और राजनीति भी तेजस्वी थी। पर चूंकि कांग्रेस का नेतृत्व इन ब्राह्मणों के हाथ में था, दक्षिण का अ-ब्राह्मण समाज कांग्रेस से अलग रहा था। काकासाहब ने कर्णाटक, केरल, आंध्र और तमिलनाडु के प्रमुख अ-ब्राह्मण नेताओं को इकट्ठा किया और समझाया— "देखिए, कांग्रेस ब्राह्मणों की है, यह आपका ख्याल ही गलत है। आज के कांग्रेस के सबसे बड़े नेता गांधीजी ब्राह्मण नहीं, बल्कि बनिया हैं। वल्लभभाई पटेल ब्राह्मण नहीं, किसान हैं। चित्तरंजन दास ब्राह्मण नहीं, कायस्थ हैं। आप कैसे कह सकते हैं कि कांग्रेस ब्राह्मणों की संस्था है? आप कांग्रेस में आ जाइए, और उसका कब्जा ले लीजिए। कांग्रेस आपकी हो जाएगी।"

कौंसिल प्रवेश और कौंसिल बहिष्कार के सवाल पर उन्होंने राजाजी को सलाह दी कि कौंसिल बहिष्कार का आंदोलन सिर्फ ब्राह्मण ही चलायें। अ-ब्राह्मण अगर कौंसिल प्रवेश करना चाहें तो उन्हें ब्राह्मण न सिर्फ कौंसिल में जाने दें, बल्कि जाने के लिए पूरी मदद भी दें।

एक जटिल समस्या का इस तरह आसानी से हल लाया हुआ देखकर राजाजी जैसे चतुर राजनीतिज्ञ भी काकासाहब की राजनैतिक सूझबूझ पर प्रसन्न हुए। और के० सी० रेड्डी, दासप्पा जैसे अ-ब्राह्मण नेता कांग्रेस में आ गए।

इस सिलसिले में काकासाहब का दक्षिण भारत में इन दिनों दो तीन बार जाना हुआ।

1923 की फरवरी में काकासाहब भी गिरफ्तार कर लिए गए। फौजदारी कानून की धारा 124 (अ) के अनुसार उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया। अदालत में जब मुकदमा चला, काकासाहब ने कहा, "मेरे लेखों में राजद्रोह है यह सिद्ध करने की तकलीफ सरकारी वकील को उठाने की जरूरत ही नहीं है। आज की सरकार के खिलाफ असंतोष फैलाना मैंने अपना परम कर्त्तव्य माना है। मैं गुनाह कबूल करता हूं।"

अदालत ने उन्हें एक साल की कड़ी कैद की सजा दी। और काकासाहब ने साबरमती आश्रम से साबरमती जेल की ओर प्रस्थान किया।

नवजीवन का भाग्य अच्छा था। इसलिए काकासाहब जेल गए उन्हीं दिनों महादेवभाई जेल से छूटकर आये। नवजीवन की परंपरा में एक भी अंक का खंड न पड़ सका। काकासाहब के जेल जाने के बाद नवजीवन का एक खास अंक प्रकाशित हुआ, जिसमें 'आधुनिक गुजरात के एक निर्माता' के रूप में काकासाहब का परिचय करा दिया गया था। चारों ओर से उनपर स्तुति-सुमनों की बौछार बरसाई गई थी।

जेल में

जेल के एकांतवास में उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक लिख डाली—'ओतराती दीवालो' (उत्तर की दीवारें) नाम की। कला की दृष्टि से यह काकासाहब की एक श्रेष्ठ कृति मानी जाती है।

जेल में अन्य लोगों ने आत्मकथाएं लिखीं। इतिहास की पुस्तकें लिखीं। गीता के भाष्य लिखे। काकासाहब ने अपने लिए बिल्कुल साधारण विषय चुन लिया—अपने आसपास के बिल्ली, कौवे, गिलहरियां, कीड़े-मकौड़े, तिलचट्टे इन प्राणियों का या ऐरंड, रीठा, नीम जैसी वनस्पति का जगत। इस पुस्तक में काकासाहब इन सबके साथ तादात्म्य साधते हैं। हर एक के प्रति उनके मन में समभाव है, करुणा है, प्रेम है। "आखिर प्रकृति के हो तो यह सारे उन्मेष हैं। प्रकृति में तुच्छ कीड़ों-मकौड़ों के लिए भी तो स्थान है।"

बाहर लड़ाई चल रही है। उसके प्रतिसाद जेल के जीवन में भी सुनाई देते हैं। पर काकासाहब यहां बिल्कुल शांत, बिल्कुल अलिप्त हैं। गुजराती साहित्य की ही नहीं, बल्कि विश्व साहित्य की यह एक अनोखी पुस्तक मानी जाती है।

गांधीजी इस पुस्तक से बेहद खुश थे।

हमेशा की तरह यहां पर भी काकासाहब के आसपास कई पुस्तकें थीं। पर, एक दिन जेलवालों ने उनकी सारी पुस्तकें उनसे छीन लीं। अपने पास एक ही धार्मिक पुस्तक रखने की उन्हें 'सजा' दी गई। बात यों हुई—

मौलाना हुसैन अहमद मदनी इसी जेल में थे। खिलाफत आंदोलन में वे गिरफ्तार कर लिए गए थे। वे बड़े चुस्त मुसलमान थे। रोज पांच बार नमाज पढ़ते थे। नमाज के पूर्व जोर से अजान बोलने की प्रथा है। जेल वालों ने उन्हें अजान बोलने की मनाही की। इस मनाही के खिलाफ उन्होंने उपवास शुरू किया। उपवास की बात कई दिनों के बाद काकासाहब को मालूम हुई। पर जब मालूम हुई, तब वे बेचैन हो उठे। उनको लगा, "मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों का रक्षण करना हिन्दू के नाते मेरा कर्त्तव्य है। मैं तटस्थ रह नहीं सकता।" फलस्वरूप, उन्होंने सहानुभूति में उपवास शुरू कर दिया। जेल वाले हारे। मुसलमानों को अजान बोलने का अधिकार देने के लिए वे मजबूर हुए। इससे उपवास समाप्त हुआ। पर जेल में उपवास करना जेल नियमों के अनुसार अपराध था। इस अपराध के लिए मौलाना मदनी और काकासाहब दोनों को सजा हुई। दोनों को जेल के एक अलग विभाग में साथ-साथ रखा गया। सजा के तौर पर काकासाहब की सारी पुस्तकें उनसे छीन लीं। केवल एक धार्मिक पुस्तक रखने की उन्हें छूट मिली। काकासाहब ने सोचा, मौलाना मदनी साथ में हैं, और एक ही पुस्तक रखने की छूट है। तो कुरानशरीफ ही क्यों न मांग लूं? उन्होंने कुरानशरीफ मांगा। जेल वालों ने कहा, "आप तो हिन्दू हैं। आप गीता रख सकते हैं। भागवत रख सकते हैं।"

"सब धर्म मेरे हैं। किसी भी एक धर्म की पुस्तक पसंद करने का मुझे अधिकार है।" काकासाहब ने जवाब दिया। कुछ बहस के बाद उन्हें कुरानशरीफ का मराठी अनुवाद मिल गया।

मौलाना मदनी विद्वान थे। मक्का मदीने में भी उन्होंने लोगों को कुरान सिखाया था। इस्लाम के एक निष्णात के रूप में उनकी अरब देशों में भी बड़ी प्रतिष्ठा थी। काकासाहब ने उनके सहवास का पूरा लाभ उठाया। और जेल में उनकी मदद से कुरानशरीफ का गहरा अध्ययन किया।

एक साल पूरा होने में केवल दो महीने बाकी थे। 1 फरवरी 1924 के दिन काकासाहब रिहा कर दिए गए। चार दिन के बाद, 5 फरवरी को, गांधीजी भी रिहा कर दिए गए। एक उत्तम शिक्षक, उत्तम शिक्षाशास्त्री, उत्तम पत्रकार, उत्तम साहित्यकार, उत्तम चिंतक, उत्तम सत्याग्रही ऐसे कई रूपों में गुजरात काकासाहब को पहचानने लग गया था। आधुनिक गुजरात के एक निर्माता के रूप में उनकी प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। स्वाभाविक रूप में

गुजरात के सार्वजनिक जीवन में जो सबसे ज्यादा गौरव का स्थान माना जाता था, वह अपने आप उनके पास चला आया। मई में गुजरात राजनैतिक परिषद का सातवां अधिवेशन बोरसद में होने जा रहा था। इस अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में काकासाहब चुने गए। बोरसद वल्लभभाई पटेल का (वे अभी सरदार नहीं बने थे) कार्यक्षेत्र था। और गुजरात के राजनैतिक जीवन में वल्लभभाई का स्थान बहुत ऊंचा था। वे काकासाहब के जीवन के अन्य पहलुओं से अधिक उनकी राजनैतिक सूझबूझ पर प्रसन्न थे। उन्हीं के सुझाव से काका साहब परिषद के अध्यक्ष चुने गए थे।

परिषद में गांधीजी उपस्थित नहीं रह सके। क्योंकि अभी-अभी उनका आपरेशन हुआ था। उनकी तबीयत नादुरुस्त थी। पर उन्होंने अपना संदेश भेजा, जिसमें स्वराज्य की दिशा में महत्व के कदम के रूप में अपना रचनात्मक कार्यक्रम संपूर्णतः अमल में लाने की उन्होंने ताईद की थी। काकासाहब के अध्यक्षीय भाषण का सूर भी यही रहा। परिषद ने जो प्रस्ताव पारित किया, वह गांधी जी की इच्छा को (जो गुजरात ने अपने लिए आज्ञा स्वरूप मानी थी) और काकासाहब के समर्थन को आंखों के सामने रखकर किया। दरबार गोपाल दास जैसे समर्थ नेता बोरसद में ही पड़ाव डालकर बैठने का संकल्प कर बैठे। मामा फड़के और रविशंकर महाराज जैसे समर्थ देश सेवक भी वही संकल्प कर बैठे। असहयोग के रचनात्मक पहलू के स्वरूप में बोरसद में स्वराज्य स्थापित करके देश के सामने एक मिसाल पेश करने के उत्साह में सब आ गए थे।

जून में अहमदाबाद में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। उस समय पत्रकार परिषद में काकासाहब ने 'पत्रकार की दीक्षा' नामक एक निबंध पढ़ा। पत्रकारिता को उन्होंने व्यापक राष्ट्रीय शिक्षा का एक महत्व का अंग माना था। उनकी राय में पत्रकार का मिशन धर्मोपदेशक और शिक्षक के समान ही था। खुद इसी आदर्श को लेकर उन्होंने पत्रकारिता को अपनाया था। अपना आदर्श उन्होंने लोगों के सामने इन शब्दों में रखा—

"सोई हुई प्रजा जागने के लिए जब करवट बदलती है, पत्रकार का स्थान तब असाधारण महत्व का हो जाता है। उसकी जिम्मेदारियां बढ़ जाती हैं। प्रजा जब युयत्सु बन जाती है, तब पत्रकार को योद्धा और सेनापति बनना पड़ता है। वह स्वयं क्षात्रधर्म की दीक्षा लेता है और वही दीक्षा वह प्रजा को भी देता है। जहां अन्याय दीख पड़े, जहां दीन दुर्बल और मुक लोगों पर जुल्म चलते रहें, वहां **'क्षतात्किल त्रायते'** की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करके वह जीवट से कूद पड़ता है। ऐसे प्रसंग जब नहीं आते, तब पत्रकार विचार, जान-

कारी, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शों का प्याऊ चलाकर समाज सेवक बन जाता है। अज्ञान या अदूरदृष्टि के कारण लोग जब आपस में लड़ने लगते हैं, तब पत्रकार लोगों की दृष्टि शुद्ध करने की कोशिश में लग जाता है। समाज-चक्र के पहिये एकराग भूलकर जब चीत्कार करने लगते हैं, तब पत्रकार योग्य स्थान पर स्नेह ऊंडेलकर घर्षण दूर करता है। और जब सरकार के सामने खड़े रहने के प्रसंग आते हैं, तब पत्रकार प्रजा के प्रतिनिधि का रूप लेकर लोकमत का संगठन करता है और लोकशक्ति को सचेत करता है। इस प्रकार लोक-सेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोक-नायक और लोक-गुरू की चतुर्विध भूमिका पत्रकार को अदा करनी पड़ती है।"

काकासाहब स्वयं इसी आदर्श को लेकर पत्रकार की अपनी भूमिका अदा करते आए थे। इसी साल बेलगांव में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। गांधीजी इस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए थे। बेलगांव तो काकासाहब का अपना शहर था। फिर गंगाधररावजी से उनका बड़ा घनिष्ठ संबंध था। इस संबंध को और गांधीजी के साथी के रूप में गुजरात के सार्वजनिक जीवन में काकासाहब ने जो स्थान प्राप्त किया था, उसे देखते हुए सभी लोगों का ख्याल था कि काकासाहब इस अधिवेशन में कोई खास स्थान पायेंगे। पर···

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण ने मेहमानों के झूठे पत्तल उठाने का काम किया था। काकासाहब ने यहां आकर सफाई का काम अपने हाथ में लिया। अधिवेशन के कुछ दिन पहले वे साबरमती से बेलगांव आए और सफाई के काम के लिए उन्होंने स्वयंसेवकों का एक दल खड़ा किया, जिसके अस्सी फीसदी सदस्य ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों के हाथ में उन्होंने भंगियों का झाड़ू दिया। काकासाहब के इस काम को देखकर गांधीजी बड़े संतुष्ट हुए।

बेलगांव से लौटते ही उन्होंने तुरंत आश्रम की शाला का नव-संस्करण शुरू कर दिया था। ठीक इसी अवधि में वे बीमार पड़े। डाक्टरों ने जांच की तब मालूम हुआ कि उनके शरीर में क्षय रोग के चिन्ह प्रकट हुए हैं।

गलतफहमियों के शिकार

स्वास्थ्य लाभ के लिए सब काम छोड़कर कहीं बाहर जाना आवश्यक हो गया था। स्वामी आनन्द के लिए काकासाहब का स्वास्थ्य बड़ी चिंता का विषय बन गया। वे उन्हें हजीरा, बोरडी, सिंहगढ़, यवत, चिंचवड़, नंदी आदि अलग-अलग कई स्थानों में ले गए। इस अवधि में काकासाहब ने अपने बचपन के संस्मरण लिखवाए, जो "स्मरणयात्रा" के नाम से प्रसिद्ध हैं। तीन साल के बाद पूरी तरह रोगमुक्त होकर जब वे आश्रम लौट आए, तब गांधीजी ने

उनको गुजरात विद्यापीठ हाथ में लेने की सूचना दी। कहा, "विद्यापीठ का मामला उलझन में पड़ गया है। उसे हाथ में लेकर सुलझा दो।"

गुजरात विद्यापीठ की गतिविधियों से काकासाहब पूरे परिचित थे। अध्यापकों के बीच मेल नहीं है, अध्यापक और संचालकों के बीच खींचतान चल रही है, अंदरूनी राजनीति से सभी तंग आ गये हैं, यह सब जानकारी काकासाहब को थी। इसलिए विद्यापीठ हाथ में लेने की सूचना जब गांधीजी ने उनके सामने रखी, उन्होंने कहा, "बापूजी, विद्यापीठ के बारे में आप जितना जानते हैं, उस से अधिक मैं जानता हूं। मैं कैसे आपको हां कह दूं? यह आसान काम नहीं है। मेरी शक्ति के बाहर का है।"

"काम आसान नहीं है, इसीलिए तो वह मैं आपको सौंपना चाहता हूं। 'हुं कोई काले तमने सहेलुं काम आपुंज नथीं'—मैं कभी भी आपको आसान काम नहीं दूँगा।" गांधीजी ने जवाब दिया।

काकासाहब क्षण भर के लिए उधेड़बुन में पड़ गये। दूसरे ही क्षण उन्होंने जवाब दिया, "ठीक है, आपको निश्चित करने के लिए मैं यह बोझ सिर पर ले लूंगा।"

इस समय विद्यापीठ के आचार्य और कुलनायक के रूप में कृपलानीजी काम करते थे। वे काकासाहब के एक घनिष्ट मित्र थे। फर्ग्यूसन कालेज के समय से उनसे संबंध थे। और काकासाहब के निमंत्रण से ही विद्यापीठ में आ गये थे। इसलिए काकासाहब को गलतफहमी की कोई चिंता नहीं थी। कृपलानी जी से मिलकर वे विद्यापीठ में अपना स्थान निश्चित करने वाले थे। पर जब गांधीजी ने कहा, "मैं कृपलानी को विद्यापीठ से बाहर खींचकर उत्तर भारत में खादी कार्य के लिए भेजना चाहता हूं।" तब काकासाहब बोले, "मैं विद्यापीठ में जाऊं और कृपलानी को विद्यापीठ छोड़ना पड़े, इससे तो हमारे बीच गलत-फहमी होगी।"

"वह मुझपर छोड़ दो, मैं देख लूंगा।" गांधीजी ने उन्हें आश्वासन दिया। इस आश्वासन के प्रति अविश्वास भला कौन प्रदर्शित करे? काकासाहब तो कर ही नहीं सकते थे। वे निश्चित रहे। पर उन्हें जो डर था, वही अंत में सही साबित हुआ। कृपलानीजी गुजरात छोड़ना नहीं चाहते थे। गांधीजी ने जब उनका यह आग्रह देखा तब उन्होंने पूछा, "मैंने आपके लिए खादी का क्षेत्र चुनकर रखा है। तिस पर भी क्या आप गुजरात में रहने का आग्रह रखते है?"

कृपलानीजी काकासाहब के पास आकर बोले, "बापूजी का यह रुख तुम अगर जानते थे, तो तुमने मुझे पहले ही चेतावनी क्यों नहीं दी? एक मित्र के नाते

तुम्हारा यह कर्तव्य था। तुमने मित्रधर्म का पालन नहीं किया।" कृपलानीजी के दिल को बड़ा आघात पहुंचा। उन्होंने अपना करीब चौबीस वर्षों का हार्दिक संबंध समेट लिया।

काकासाहब को इसका जिंदगी भर भारी विषाद रहा। कृपलानीजी से भी अधिक नाराज स्वामी आनन्द थे। काकासाहब का उनसे भी उतना ही पुराना संबंध था। दोनों के बीच इतना घनिष्ट संबंध था कि दोनों एक दूसरे को 'तू' या 'तुम' कहके पुकारते थे 'आप' कभी नहीं कहते थे। स्वामी गुस्से के मारे आगबबूला हो गये और काकासाहब के पास आकर कहने लगे, "तुमने विद्या-पीठ की जिम्मेदारी सिर पर लेकर मित्रद्रोह किया है। यह जिम्मेदारी छोड़ दो। इसे लेने से इंकार कर दो।"

काकासाहब ने कहा, "मैंने बापूजी को वचन दिया है।" स्वामी और भी गुस्सा होकर बोले, "बापूजी से पहले का हम तीनों का संबंध है।"

"मैं बापूजी को तो यह सब पहले बता दूं। उनकी इजाजत तो ले लूं।" काकासाहब ने जवाब दिया।

यह जवाब सुनकर स्वामी का गुस्सा शांत होने के बजाय और भी बढ़ गया। वे काकासाहब से सारे संबंध तोड़कर उनसे उसी क्षण दूर हुए। उनसे बोलना छोड़ दिया। यही नहीं, नाथजी जैसे एक आध्यात्मिक पुरुष की सलाह से उनको अपने दिमाग से भी निकाल दिया। काकासाहब के लिए गुजरात विद्यापीठ की जिम्मेदारी प्रारंभ से ही बहुत महंगी सिद्ध हुई। उनको अपने दो घनिष्ट मित्रों को हमेशा के लिए खोना पड़ा।

संकटों की तरह गलतफहमियों का भी तांता एक बार जब शुरू होता है तब शायद लगातार वह चलता ही रहता होगा। काकासाहब को इस बात का अनुभव इन दिनों उत्कटता के साथ होने लगा।

स्वदेशी का विचार उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में महाराष्ट्र में काफी चर्चित रहा था। बंग-भंग के दिनों में उसका संवर्धित स्वरूप आगे आया था। किन्तु उसके विशुद्धतर स्वरूप का दर्शन देश को सबसे पहले गांधीजी ने ही कराया था। काकासाहब ने गांधी युग की स्वदेशी का वर्णन "इस युग के एक लोकोद्धारक ईश्वरी अवतार" के रूप में किया था। 1919 में उन्होंने इस तरह का प्रतिपादन करने वाला एक मौलिक निबंध लिखा था। और उसका अंग्रेजी अनुवाद 'द गोस्पेल आफ स्वदेशी' के नाम से प्रकाशित भी करवाया था। गांधीजी ने इस अंग्रेजी अनुवाद की प्रस्तावना लिखी थी।

फ्रांस के मनीषी रोमांरोलां ने गांधीजी की जीवनी लिखने की जब सोची, वे इस विषय में तरह-तरह का साहित्य इकट्ठा करने लगे। तब अपने को 'इंटर-

नेशनलिस्ट' समझने वाले एक भारतीय सज्जन ने, जो रवीन्द्रनाथ के साथी भी माने जाते थे, रोलां से कहा, "गांधीजी बड़े हैं, इसमें कोई शक नहीं। पर उन के आसपास जो लोग इकट्ठा हुए हैं, वे बिल्कुल दकियानूसी और संकुचित वृत्ति के हैं।" और अपनी बात की पुष्टि के लिए उन्होंने रोलां को काकासाहब की 'द गोस्पेल आफ स्वदेशी' पुस्तक पढ़ने को दी। रोलां, योरोप के राष्ट्रवाद ने राष्ट्र-पूजा-धर्म का जो स्वरूप धारण किया था उससे तंग आ गये थे। उन्होंने जब काकासाहब की यह पुस्तक पढ़ी तब उनको भी लगा कि गांधीजी अगर अपने आसपास ऐसे ही दकियानूसी और संकुचित वृत्ति के लोग इकट्ठा करेंगे तो थोड़े ही दिनों में वे भारत के आसपास बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी कर देंगे। रोलां ने अपनी पुस्तक में काकासाहब की कड़ी आलोचना की। उन्हें आड़े हाथों लिया।

इस आलोचना की ओर सबसे पहले गांधीजी का ही ध्यान गया। उन्होंने अपने मित्र गणेशन के द्वारा रोलां को कहलवाया कि आपने काकासाहब के विचारों की बहुत कड़ी आलोचना की है। आप जब तक इस देश में नहीं आते और अपनी आंखों से परिस्थिति का निरीक्षण नहीं करते, तब तक आपकी समझ में न तो स्वदेशी का सिद्धांत आयेगा, न ही आप काकासाहब को अच्छी तरह से पहचान सकेंगे। गणेशन ने रोलां को यह सब लिखा और अपनी ओर से यह भी जोड़ दिया कि बड़े लोगों के आसपास छोटे लोग इकट्ठा होते हैं इसकी आपने जो आलोचना की है, उससे मैं सहमत हूं। तिस पर भी मुझे कहना चाहिए कि आपने इस मामले में एक गलत आदमी को चुन लिया है। काकासाहब गांधीजी के एक ऐसे साथी हैं, जो महादेवभाई की तरह उनको अच्छी तरह समझते हैं। उन्होंने गांधीजी के विचार अन्य कइयों से अधिक अच्छी तरह आत्मसात किये हैं।

कइयों ने काकासाहब से कहा कि आप भी रोलां को पत्र लिखिये। पर पत्र लिखने के लिए काकासाहब तैयार नहीं हुए। अंत में मीरा बहन ने उन्हें समझाया कि एक सत्पुरुष के मन में आपके बारे में गलतफहमी रहे, यह मुझे अच्छा नहीं लगता, तब और तभी उन्होंने रोलां को एक सविस्तार पत्र लिखा। और रोलां ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक न केवल अपना आक्षेप वापस लिया, बल्कि खेद प्रकट करते हुए काकासाहब से क्षमायाचना भी की।

इतना महान पुरुष उनसे क्षमायाचना कर रहा है, इसका प्रदर्शन करना काकासाहब को रुचा नहीं। इसलिए उन्होंने रोलां का वह पत्र दबाकर रख दिया। कभी प्रकाशित होने नहीं दिया। अभी हाल में भारत सरकार की ओर से रोलां की भारत विषयक डायरी प्रकाशित हुई है, उसमें यह सब हमें पढ़ने को मिलता है।

6. गुजरात विद्यापीठ में

जिस भाषा को काकासाहब ने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में चुन लिया था उस गुजराती भाषा में वर्तनी के बारे में लगभग अराजकता फैली हुई थी। हर कोई मन में आये वैसे लिखता था। इस अराजकता को दूर करने के इरादे से लगभग चालीस साल से गुजरात के विद्वानों (साक्षरों) में असंतोष युक्त चर्चा चलती आई थी। फिर भी इस दुर्दशा को दूर करने का ठोस प्रयत्न अबतक किसी ने नहीं किया था। काकासाहब गुजराती के एक बड़े लेखक के रूप में प्रख्यात हुए, तब गांधीजी ने उनसे कहा, "मुझे एक ऐसा कोश बनाकर दें, जिसमें गुजराती के सब शब्द हों और हर एक शब्द की वर्तनी नियम के अनुसार शुद्ध हो।"

विद्यापीठ के कुलनायक के रूप में काकासाहब ने जब काम संभाला, उन्होंने सबसे पहले यही काम हाथ में लिया। और महादेवभाई देसाई, नरहरि भाई परीख और अन्य अनेक मित्रों की मदद से पांच साल के अंदर गुजराती भाषा को एक सर्वमान्य 'जोड़णी कोश' संपादित करके दिया। यह कोश गुजरात में आज भी प्रमाणित माना जाता है। यही नहीं, देश के अच्छे से अच्छे कोशों में से वह एक है।

विद्यापीठ का जन्म असहयोग में स्वराज्य प्राप्ति के एक साधन के रूप में हुआ था। इसलिए उसकी रचना में साहित्य संगीत कला की शिक्षा को जितना स्थान और महत्व था उतना ही—बल्कि उससे कहीं अधिक—तप, त्याग, उद्योग-युक्त संयमी जीवन की दीक्षा को था। विद्यापीठ के विद्यार्थी अगर स्वराज्य प्राप्ति के कार्य में सैनिकों के रूप में उपयोग में न आयें तो विद्यापीठ की शिक्षा पर महज राष्ट्रीयता का लेबल लगाने से वह दूसरी परंपरागत शिक्षा से किसी अर्थ में अलग सिद्ध नहीं होती यह गांधीजी की तरह काकासाहब की भी राय थी। इसलिए उन्होंने विद्यापीठ की बागडोर हाथ में लेते ही अब तक उसमें

चलती आई प्रवृतियों की काट-छांट शुरू कर डाली। उसको ग्रामोन्मुख करके उसकी दिशा को बदलने की कोशिश की। विनय मंदिर, महाविद्यालय, छात्रालय आदि उसके सभी अंगों को नया रूप दिया। नये-नये उद्योगों की तालीम जारी कर दी। बम्बई के एक बड़े गांधीभक्त नगीनदास अमुलखराय ने एक लाख रुपयों का दान दिया था। इस दान का उपयोग काकासाहब ने ग्राम-सेवा-मंदिर की स्थापना करने में किया। यही नहीं, 'ग्राम सेवा दीक्षित' नामक एक नई उपाधि (डिग्री) भी उन्होंने शुरू कर दी। इसके लिए विद्यार्थी तैयार किये। इनमें से दो के नाम अवश्य दिये जा सकते हैं, जो बाद में ग्रामसेवा के कार्य में देश में बहुत प्रख्यात हुए। एक थे, बबलभाई मेहता और दूसरे, झवेरभाई पटेल।

कइयों को लगा कि काकासाहब ने साहित्य संगीत कला को गौण बनाकर खादी कार्य को ओर रचनात्मक कामों को जो अग्रिमता दी उससे देश के एक तेजस्वी विद्या-केन्द्र की कीर्ति को उन्होंने समेट लिया है। काकासाहब के विरोध में गुजरात के कई संस्कृति-धुरीण नेताओं ने जोर-शोर के साथ इस तरह की आलोचना शुरू कर दी। आचार्य ध्रुव ने तो काकासाहब के इस रुख को संस्कृति-विध्वंसक भी कहा। उन्हें विशेष दुःख इस बात का था कि यह विध्वंसक कार्य काकासाहब जैसे संस्कृति के उपासक के हाथों हुआ। किन्तु इन आलोचकों के ध्यान में एक बात नहीं आई कि बाहर लड़ाई की तैयारियां जोर-शोर के साथ चल रही थीं। गांधीजी सर्वमेध यज्ञ की लड़ाई में अपना सर्वस्व होम देने की तैयारी में जुट गये थे। इस महायज्ञ में विद्यापीठ केवल साहित्य संगीत कला की उपासना में मग्न रह नहीं सकता था। काकासाहब संस्कृति के उपासक थे। उसके बढ़िया से बढ़िया उपासक थे। पर उससे अधिक वे स्वतंत्रता के उपासक थे। विद्यापीठ को राष्ट्रोत्थान के कार्य की एक छावनी में बदल देने के सिवा वे और कुछ कर भी नहीं सकते थे।

बारडोली में जब सत्याग्रह शुरू हुआ, काकासाहब ने तुरन्त अपने विद्यार्थियों को उसमें हिस्सा लेने के लिए भेज दिया। इसके तुरंत बाद लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव पास हुआ। कुछ ही दिनों में 26 जनवरी 1930 के दिन, समूचे देश ने पूर्ण स्वराज्य की प्रतिज्ञा ली। उस दिन विद्यापीठ में सुबह की प्रार्थना के बाद अपने प्रवचन में काका-साहब गदगद होकर बोले, "बरसों से जिस अवसर की राह हम देखते आये थे, वह अवसर अब आ गया है। बंग-भंग के दिनों से हम मानते आये थे कि सभी बाहरी नियंत्रणों से मुक्त पूर्ण स्वराज्य ही हमारा लक्ष्य हो सकता है। आज की यह घड़ी हमारे जीवन की धन्य घड़ी है—न सिर्फ मेरे लिए, बल्कि हम सबके लिए; समूचे देश के लिए।"

तुरंत वे भावी संग्राम की तैयारी में जुट गये। तभी लोगों को मालूम हुआ कि काकासाहब ने विद्यापीठ को जो नई दिशा दी थी वह गांधी-कार्य की उन की गहरी समझ की द्योतक थी।

गांधीजी लड़ाई को क्या रूप देते हैं, यह जानने सुनने के लिए करोड़ों आंख-कान मन एकाग्र हुए थे। एक दिन उन्होंने जाहिर किया कि 12 मार्च 1930 के दिन सत्याग्रहियों की एक टुकड़ी लेकर वे आश्रम से रवाना होंगे और पैदल चलकर दांडी के समुद्र किनारे पर नमक का कानून तोड़ेंगे। उस दिन से विद्यापीठ में रोज तीन-तीन बार प्रार्थना चलने लगी और रोज तीन-तीन प्रवचन देकर काकासाहब विद्यार्थियों और अध्यापकों को बलिदान के लिए तैयार करने लगे। अपनी छावनी में किसी भी प्रकार की शिथिलता प्रवेश न करने पाये इसके लिए वे अखण्ड जाग्रत रहते थे। इसलिए संगीत के शिक्षक ने जब उन्हें बताया कि उनकी जेल जाने की तैयारी नहीं है, काकासाहब ने उन्हें विद्यापीठ की सेवा से उसी क्षण मुक्त कर दिया। दूसरे एक शिक्षक जो काकासाहब के एक समय के प्रिय विद्यार्थी थे, उन्होंने जब कहा कि वे गांधीजी की कूच में उनके साथ रहकर कूच की फिल्म तैयार करना चाहते हैं (उनका ख्याल था कि काकासाहब चूंकि कला के केवल रसिया ही नहीं, बल्कि पक्ष-पाती भी हैं, इसलिए उनको यह फिल्म बनाने का सुझाव पसंद आयेगा) तब काकासाहब ने उनसे पूछा, "इसका क्या यह मतलब है कि आपको जेल नहीं जाना है?" शिक्षक ने जवाब दिया, "मैं समझता हूं, इस लड़ाई के लिए मेरा यही योगदान उत्तम है।"

काकासाहब विचार करने के लिए एक क्षण भी नहीं रुके। "ऐसी निष्प्राण कला की हमें जरूरत नहीं है," कहकर उन्होंने विद्यापीठ की सेवा से उसी क्षण उन्हें मुक्त करने का निर्णय बिना संकोच ले लिया।

एक विद्यार्थी ने इस समय एक कविता लिखी और काकासाहब को दिखाई। इसमें कवि ने स्वराज्य के सैनिकों को 'लड़ते रहो, जूझते रहो' इस तरह का आवाहन किया था। काकासाहब ने कविता पढ़ी और कवि को पूछा, "वह लड़ता रहे, जूझता रहे, और हम क्या करें? सिर्फ देखते रहें?" कवि झेंप गया। उसने तुरंत कविता में "हम लड़ते रहेंगे, जूझते रहेंगे" इस तरह का वाक्य बदल दिया।

काकासाहब प्राणपूजक थे। इस प्राण की प्रेरणा से और इस प्राण के निर्माण के लिए ही उन्होंने विद्यापीठ की बागडोर अपने हाथ में ली थी। महाविद्या-लय में वे अर्थशास्त्र पढ़ाते हों या आर्यावर्त के इतिहास का रहस्योद्घाटन करते हों, प्रार्थना मंदिर में प्रवचन करते हों या विद्यार्थियों के साथ बातचीत करते

हों, सभी जगह उनके मुंह से प्राण-साधना के मंत्र की ही ध्वनि निकलती थी। बिना प्राण की विद्वता किस काम की, इस आदर्श से विद्यार्थियों को अनुप्राणित करने में ही वे लगे हुए थे।

गांधीजी दांडीकूच के लिए निकल पड़े तब उनके अस्सी सैनिकों में काकासाहब के शंकर और बाल दोनों बेटे शामिल हुए थे। बड़ा बेटा शंकर बम्बई में पढ़ रहा था। वह परीक्षा छोड़कर गांधीजी की सेना में शरीक होने के लिए आ गया था। अगर काकी होती तो निःसंशय वह भी लड़ाई में अपना हिस्सा अदा करतीं। पर दुर्भाग्यवश एक साल पहले उनका आश्रम में देहान्त हो गया था।

विद्यापीठ के सभी अध्यापक और विद्यार्थी इस नमक सत्याग्रह की लड़ाई में कूद पड़े थे। काकासाहब ने विद्यार्थियों की दो टुकड़ियां बनाई थीं। एक का नाम था 'अरुण टुकड़ी' और दूसरी का 'कर्णधार टुकड़ी'। गांधीजी के साथ जो अस्सी सैनिक थे उनको उन्होंने नाम दिया था 'स्वराज्य का सूर्योदय', इनकी यात्रा के एक दिन पहले अरुण टुकड़ी के विद्यार्थी आगे जाकर अस्सी लोगों के रहने का, खाने पीने का और सूत कताई आदि का प्रबंध करते थे। इनमें से आधे सूर्योदय सैनिकों का स्वागत करके उनकी सेवा करते थे, और आधे दूसरे दिन की तैयारी करने के लिए आगे चले जाते। हर एक गांव के लोगों को गांधीजी का हेतु और उनकी कार्य-पद्धति समझा देना, उनमें स्वराज्य का उत्साह जगा देना और गांधी आगमन की सारी तैयारी कर लेना यह था इनका काम। दांडीकूच के दो सौ मील के रास्ते की जनता इनसे खुश थी। इनको अपने घर के ही लोग समझती थी।

विद्यापीठ के बाकी के भी विद्यार्थियों को काकासाहब ने गुजरात के सभी जिलों में भेज दिया था। हर एक को समझा दिया था कि तुम्हारा काम समस्त गुजरात में स्वराज्य की आग फैलाने का है। घूमकर सभी जगह पहुंच जाओ और लोगों को समझाओ कि अब की लड़ाई अंग्रेजों के साथ गांधीजी की आखिरी लड़ाई है। बिना स्वराज्य लिए वे आश्रम में लौटना नहीं चाहते।

इस प्रकार विद्यापीठ के सारे विद्यार्थी और अध्यापक इस लड़ाई में कूद पड़े। और काम करते-करते जेल पहुंच गये। जो पीछे रह गये थे, वे धारासणा के नमक युद्ध में शरीक हुए। विद्यापीठ का यह काम देखकर गांधीजी के मुंह से उद्‌गार निकले, "अब तक विद्यापीठ के लिए जितना पैसा खर्च हुआ, सारा का सारा चक्रवर्ती ब्याज के साथ वापस मिल गया है।" गांधीजी के इन उद्‌गारों से बढ़कर काकासाहब के लिए धन्यता की कौन-सी बात होती? किसी ने उनसे उन दिनों स्वाक्षरी मांगी, तब उन्होंने लिख दिया : "मेरे विद्यार्थियों ने मेरा जीवन धन्य कर दिया है।"

4 मई के दिन गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये। पर उनसे पहले 29 अप्रैल के दिन काकासाहब गिरफ्तार हुए। उन्हें सात महीने की सादी कैद की सजा दी गई थी। वे साबरमती जेल में रखे गये थे। पर 19 जून को यकायक उन्हें साबरमती से हटाकर यरवदा में भेज दिया गया। और गांधीजी के साथी के रूप में उन्हीं के साथ रखा गया। लगभग पांच महीने उन्हें गांधीजी के साथ रहने का लाभ मिला। जब से गांधीजी के संपर्क में आये थे, दोनों हमेशा व्यस्त रहे थे। इस व्यस्तता में भी काकासाहब गांधीजी से मिलते, उनसे सिद्धांत चर्चा भी करते थे। पर इस तरह लगातार पांच महीने उनके साथ रहने का मौका उन्हें कभी नहीं मिला था। काकासाहब को यह ईश्वर की कृपा मालूम हुई हो तो आश्चर्य नहीं। अपने अनुभव उनके सामने रखकर चिंतन की गहराई में उतरने का एक अच्छा अवसर उन्हें मिल गया था। इसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया।

पांच महीनों के निकटतम सहवास में गांधीजी के जीवन के जो विविध पहलू उन्हें देखने को मिले उनका वर्णन उन्होंने अपनी 'मीठाने प्रतापे' (नमक के प्रभाव से) नामक पुस्तक में लिखा है। इसमें से ही एक मनोरंजक किस्सा यहां उद्धृत है—

गांधीजी जानते थे कि काकासाहब के पास लिखवाने के लिए हमेशा कुछ-न-कुछ रहता ही है। वे यह भी जानते थे कि काकासाहब को अपने हाथ से लिखने की आदत नहीं है। कोई लिखने वाला पास में हो तभी वे लिखवाते हैं। उनका अब तक का सारा साहित्य उन्होंने किसी-न-किसी को लिखवाया है। इसलिए काकासाहब ने यरवदा में प्रवेश किया उसके दूसरे या तीसरे दिन गांधीजी ने उनसे कहा, "काका, मैंने अपने समय का हिसाब लगाकर देख लिया है। मैं आपको रोज आधा घंटा दे सकता हूं। अगर कुछ लिखवाना हो तो मैं लिख लूंगा।"

गांधीजी का यह प्रस्ताव सुनते ही काकासाहब शरम के मारे पानी-पानी हो गये। बोले, "बापूजी, भगवान ने मुझे विशेष बुद्धि नहीं दी है। पर मैं इतना बुद्धू भी नहीं हूं कि आपसे लिखवाने के लिए तैयार हो जाऊं।"

गांधीजी बोले, "नहीं नहीं, संकोच करने का कोई कारण नहीं, मैं आपको सचमुच आधा घंटा देने के लिए तैयार हूं।"

"आपसे लिखवाने जैसा मेरे पास कुछ है नहीं", कहकर काकासाहब ने संकट टाल दिया।

नवम्बर के अंत में वे रिहा कर दिये गये। रिहा होने के बाद वे सीधे अहमदाबाद गये। जनवरी में गांधीजी भी रिहा हुए। उसके तुरन्त बाद

गांधीजी के और वाइसराय के बीच बातचीत हुई, इसके परिणामस्वरूप एक समझौता हुआ, जो गांधीजी-इरविन समझौता कहलाया जाता है। काकासाहब को डर लगा कि इस समझौते के परिणामस्वरूप जो युद्ध विराम हुआ है, उसे लोग कहीं ऐसा न मान बैठें कि अब लड़ाई खत्म हो गई है। इसलिए उन्होंने विद्यापीठ में तुरन्त एक "स्वराज्य विद्यालय" शुरू कर दिया। जो लड़ाई अभी हो चुकी थी, उसमें प्राप्त अनुभवों को ध्यान में रखकर अगले युद्ध के लिए लोगों को तैयार करना यह इस स्वराज्य विद्यालय का उद्देश्य था। वे जानते थे और कहने भी लगे थे कि पूर्ण स्वराज्य की लड़ाई लम्बे अरसे तक चलने वाली है। शिथिल रहना खतरनाक है।

कुछ दिनों के बाद गांधीजी गोलमेज परिषद के लिए इंग्लैण्ड गये। इंग्लैण्ड से जब वे लौट आये, यहां भारत में वाइसराय का आर्डिनेन्स राज्य शुरू हो गया था। राष्ट्रनिर्माण की सभी प्रवृत्तियों को सरकार ने दबा दिया था। इस उद्देश्य से जो सर्वभक्षी अध्यादेश सरकार ने जारी किये, उसमें विद्यापीठ की भी आहुति पड़ गई। उसके प्रमुख कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करके सरकार ने जेल भेज दिया और विद्यापीठ के मकान तथा संपत्ति पर अपना कब्जा जमा दिया।

अब की बार काकासाहब को अहमदाबाद से दूर बेलगांव के नजदीक की हिंडलगा जेल में रखा गया। वहां उन्हें सूत कातने की सहूलियत नहीं मिली, इसलिए उन्होंने सात दिन का उपवास किया। फलस्वरूप कातने की इजाजत देकर उन्हें शरारती कैदियों के साथ रखा गया। वहां उन्हें दूसरे एक 'शरारती' कैदी मिल गये, जिनका नाम था पुंडलीक कातगड़े। वे गंगाधरराव के साथी थे और काकासाहब के मित्र भी थे। एक रचनात्मक कार्यकर्ता थे और गांधी विचारों से पूरे रंगे हुए थे। परिणामस्वरूप दोनों के बीच देश के सभी समस्याओं की चर्चा शुरू हुई। दोनों मानते थे कि स्वराज्य के आंदोलन को गांवों तक पहुंचाना हो तो ग्रामोद्धार की कोई ठोस योजना होनी चाहिए। पर हमारे गांव तो पुरानी संस्कृति से प्राप्त भले बुरे रिवाजों और मान्यताओं को पकड़कर बैठे हुए हैं। इन रिवाजों और मान्यताओं को सुधारकर उन्हें ताजे भविष्योपयोगी और प्राणवान किये बिना स्वराज्य का आंदोलन गांवों तक पहुंच नहीं पायेगा, इस निर्णय पर आने के बाद ग्रामीण जनता को क्रांति के लिए तैयार करने की प्रवृत्ति के पीछे कौन-सा दर्शन होना चाहिए, इसका चिंतन दोनों के बीच चला। पुंडलीकजी को महसूस हुआ कि यह चिंतन लिख लेना चाहिए। वरना वह हवा में उड़ जायेगा। वे काकासाहब के 'गणेशजी बने और काकासाहब ने उनको मराठी में एक पुस्तक लिखवाई, जो 'हिंडलग्याचा

प्रसाद' नाम से प्रकाशित हुई। बाद में इसके गुजराती और हिन्दी में अनुवाद हुए जो 'लोक-जीवन' के नाम से बड़े लोकप्रिय हुए। इस पुस्तक में ग्राम-जीवन के नव-निर्माण का एक सर्वांगपूर्ण चित्र देखने को मिलता है।

1932 के अंत में काकासाहब जेल से रिहा हुए। कुछ महीनों के बाद जुलाई, 1933 में गांधीजी ने साबरमती आश्रम का विसर्जन किया। आश्रम के पास अपना एक पुस्तकालय था। गांधीजी ने वह अहमदाबाद की नगरपालिका को सौंप दिया था। गांधीजी ने जब इस तरह का निर्णय लिया तब काका-साहब के सामने सवाल पैदा हुआ कि विद्यापीठ के ग्रंथालय का क्या किया जाय ? गांधीजी का रुख देखकर वे मानने लगे थे कि स्वराज्य की लड़ाई कम से कम और दस साल तक तो चलने ही वाली है। इसलिए उन्होंने सोचा : विद्यापीठ के ग्रंथालय पर सरकार कब्जा करे, इससे बेहतर तो यह होगा कि वह भी अहमदाबाद नगरपालिका को ही सौंप दिया जाय। उन्होंने गांधीजी से पूछा और उनकी सम्मति से ग्रंथालय नगरपालिका को सौंप दिया।

काकासाहब की शुद्ध बुद्धि पर शंका करने का कोई कारण नहीं था। पर···

सरदार पटेल इस समय जेल में थे। वे विद्यापीठ के एक विश्वस्त थे। उन्हें काकासाहब का यह निर्णय बिल्कुल पसंद नहीं आया। वे कहने लगे, ग्रंथालय विद्यापीठ का है। और विद्यापीठ का अपना एक विश्वस्त मंडल है। इस विश्वस्त मंडल की सम्मति लिये बिना काकासाहब किसी को ग्रंथालय सौंप ही नहीं सकते। काकासाहब की कार्रवाही अधिकृत नहीं मानी जा सकती। सत्याग्रह बंद होने के बाद विश्वस्त मंडल ने नगरपालिका से ग्रंथालय वापस ले लिया।

इस दुःखद घटना से काकासाहब का मन उचट गया। उन्होंने विद्यापीठ से त्यागपत्र दे दिया। यही नहीं, वल्लभभाई की इच्छा को ताड़कर उन्होंने गुजरात भी छोड़ने का निर्णय लिया। गुजरात को उन्होंने अपनी सेवा ही नहीं, बल्कि हृदय भी अर्पित किया था। राजनैतिक क्षेत्र में उतरने की उनकी लेशमात्र इच्छा नहीं थी। फिर भी वे अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना चाहते थे, जिससे उनकी सेवा-शक्ति कुंठित या विकृत न हो सके। गुजरात छोड़ने का निर्णय लेना एक तरह से आत्महत्या के समान था। गांधीजी को उनका यह निर्णय बिल्कुल पसंद नहीं आया। उनको अपने निश्चय से परावृत्त करने के लिए गांधीजी ने भी काफी प्रयत्न किये। उन्होंने यहां तक कहा कि आपके इस निश्चय से गुजरात का बहुत नुकसान होगा।

फिर भी काकासाहब अपना निश्चय छोड़ न सके। इस मामले में वे अपने को लाचार महसूस करते थे। गांधीजी से "सवाई गुजराती" की उपाधि पाये हुए काकासाहब परिस्थितिवश गुजरात छोड़ने के लिए अब मजबूर हुए थे।

7. जंगम विद्यापीठ

राष्ट्रभाषा प्रचार में

गुजरात छोड़कर कहां जाना है और क्या करना है, यह निश्चित कर नहीं पाये थे। इतने में वे फिर से गिरफ्तार कर लिए गए। अबकी बार उन्हें सिंध के हैदराबाद जेल में रखा गया। साम्यवादी नेता कामरेड श्रीपाद अमृत डांगे भी इसी जेल में थे। काकासाहब को अपने हाथ से लिखने की आदत नहीं है, यह देखकर डांगेजी उनके गणेशजी बनने को तैयार हुए और काकासाहब ने उनको मराठी में गीता के समाज-शास्त्र पर एक छोटी पुस्तक लिखवाई। गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी संपत के जिन गुणों का वर्णन आया है, उनका समाज शास्त्र की दृष्टि से किया हुआ यह निरूपण है। 'गीता धर्म' के नाम से वह गुजराती में और अभी हाल ही में हिन्दी में अनुवादित हुआ है। डांगे के सहवास में उन्होंने यहां मार्क्सवाद का भी गहरा अध्ययन किया।

1934 में वे रिहा हुए। गांधीजी उन दिनों हरिजन यात्रा पर थे। काकासाहब उनके साथ जुड़ गये। गांधीजी के साथ उन्होंने सिंध, पंजाब, संयुक्त प्रांत, बिहार और बंगाल की यात्रा की।

इसी यात्रा में राष्ट्रभाषा प्रचार का काम हाथ में लेने का सुझाव गांधीजी ने उनके सामने रखा।

काकासाहब आश्रम में सम्मिलित हुए थे, उन्हीं दिनों भड़ौच में एक शिक्षा परिषद हुई थी। गांधीजी इसके अध्यक्ष थे। इस परिषद में काकासाहब ने गांधीजी के कहने से एक निबंध पढ़ा था, जिसका आशय था, "हिन्दी ही इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है।" यह सन् 1917 की बात है। उसी समय गांधी जी ने काकासाहब को हिन्दी प्रचार का काम सौंपकर उन्हें दक्षिणी भारत में भेजने की सोची थी। पर काकासाहब आश्रम में सम्मिलित हुए थे, गांधीजी को समझने के लिए। "जब तक मैं आपके विचार, आपकी कार्यपद्धति, आपकी

जीवनदृष्टि पूरी समझ न सकूं, कहीं बाहर जाना मैं उचित नहीं समझता।" यों कहकर काकासाहब ने इन्कार कर दिया था।

और गांधीजी ने वह मान्य किया था। उनके बदले राजंगम को, जिन्होंने बाद में हरिहर शर्मा नाम धारण किया, दक्षिण भारत भेज दिया था। राजंगम काकासाहब के गंगनाथ के समय के साथी थे और तमिल भाषी थे।

राष्ट्रभाषा के बारे में गांधीजी के विचार दक्षिण अफ्रीका में ही पक्के हो चुके थे। सन् 1909 में लिखी गई अपनी 'हिन्द स्वराज्य' पुस्तक में उन्होंने यह प्रतिपादन किया था कि राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही होनी चाहिए और उसे उर्दू और नागरी दोनों लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। 1917 में भड़ौच में जो शिक्षा परिषद हुई उसके अध्यक्षीय भाषण में गांधीजी ने यही विचार अधिक विस्तार से रखे थे। वे हिन्दी और उर्दू को दो अलग भाषाएं मानते नहीं थे। बल्कि एक ही भाषा के दो रूप मानते थे। उन्होंने अपने इस भड़ौच के भाषण में कहा था : "उत्तरी हिन्दुस्तान में जिस भाषा को वहां आम जन-समाज बोलता है, उसे आप उर्दू कहें या हिन्दी कहें, बात एक ही है। उर्दू लिपि में लिखकर उसे उर्दू के नाम से पहचानें और उन्हीं वाक्यों को नागरी में लिख कर उसे हिंदी कह लें।"

गांधीजी के इस भाषण का वृत्तान्त राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडनजी के हाथ में पहुंचा। 1910 में प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन नाम की एक संस्था स्थापित हुई थी, जो हिन्दी का प्रचार करती थी। टंडनजी उसके प्राण थे। पण्डित मदन मोहन मालवीयजी भी इस संस्था में थे। गांधीजी जैसे देश के एक प्रभावशाली नेता को हिन्दी के समर्थक के रूप में देखकर टंडनजी खुश हुए। और 1918 में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ, उसके अध्यक्ष के रूप में उन्होंने गांधीजी को चुन लिया। गांधीजी ने इन्दौर के इस सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में भी वही विचार दोहराये, जो उन्होंने पहले 'हिन्द स्वराज्य' में और बाद में भड़ौच के भाषण में प्रकट किये थे।

भाषण देकर बैठे रहना गांधीजी का स्वभाव ही नहीं था। उन्होंने हिन्दी प्रचार के लिए सम्मेलन को काम में लगा दिया। दक्षिण भारत में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' नामक एक संस्था स्थापित करके पहले पहल वहीं हिन्दी का प्रचार शुरू किया। अपने बेटे देवदास गांधी को भी उन्होंने वहां प्रचार के लिए भेज दिया था। शुरू-शुरू में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से ही चलता था। किन्तु थोड़े ही दिनों में गांधीजी ने यह महसूस किया कि सम्मेलन के पास न तो पर्याप्त दूरदृष्टि है, न ही इस तरह का काम करने की उसमें कुशलता है। इस स्थिति में दक्षिण

भारत में सम्मेलन को काम करने देना उचित नहीं था। परिणाम उल्टा हो सकता था। इसलिए उन्होंने दृढ़तापूर्वक सम्मेलन को दक्षिण भारत से अलग रखा। और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को स्वतंत्र रीति से काम चलाने को कहा।

गांधीजी ने काकासाहब के सामने हिन्दी प्रचार का काम हाथ में लेने का सुझाव रखा, उस समय दक्षिण में प्रचार कार्य काफी फैल गया था।

काकासाहब ने बिना हिचकिचाये गांधीजी का यह सुझाव शिरोधार्य मानकर हिन्दी प्रचार का काम अपने हाथ में ले लिया। देश में अब तक जो भ्रमण उन्होंने किया था, उससे देश की भाषा समस्या का स्वरूप उनके ध्यान में आ गया था। इस विषय में उनका अपना चिंतन भी काफी चला था। भाषा का सामाजिक महत्व वे अच्छी तरह समझते थे। और गांधीजी का भाषा विषयक दृष्टिकोण उन्हें संपूर्णतः मान्य था। उनकी रुचि का ही यह काम था। इस लिए गांधीजी को हां कहकर वे पहले दक्षिण भारत गये। कर्नाटक, आंध्र, केरल, तमिलनाडु चारों प्रांतों में घूमकर वहां के प्रचार कार्य को व्यवस्थित रूप देने का उन्होंने प्रयत्न किया। यही नहीं, स्थानिक लोगों से निधि इकट्ठा करके हिन्दी प्रचार की जड़ें लोगों के जीवन में पहुंचाने की भी कोशिश की। राजाजी ने उन्हें इस काम में काफी मदद की थी। लगभग दो महीनों के बाद वे वर्धा लौटे। अब वर्धा गांधीजी का मुख्यालय बन गया था। ठीक इसी समय इन्दौर में, सन् 1935 में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक और अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के गांधीजी ही अध्यक्ष चुने गये थे। इस अधिवेशन में भी गांधीजी ने वही विचार प्रकट किये, जो उन्होंने सत्रह साल पहले इसी मंच से इन्दौर में प्रकट किये थे। राष्ट्रभाषा की जो व्याख्या उन्होंने की थी उसके विरोध में सम्मेलन ने इस क्षण तक कोई आपत्ति नही उठाई थी। अबकी बार गांधीजी ने हिन्दी प्रचार के लिए सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, विधर्भ, बंगाल, उड़ीसा, आसाम इन अहिन्दी प्रदेशों को चुना और यहां प्रचार करने के लिए एक नई समिति बनाई, जो 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' के नाम से पहचानी जाने लगी। इसका दफ्तर वर्धा में रखा गया था। फलस्वरूप काकासाहब का भी अब वर्धा मुख्यालय बन गया। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद थे। उपाध्यक्ष काकासाहब। काकासाहब की राय थी कि दक्षिण भारत का अनुभव ध्यान में रखते हुए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को सम्मेलन से स्वतन्त्र रहकर ही काम करना चाहिए। जमनालालजी भी उनसे सहमत थे। पर टंडनजी ने गांधी जी से आग्रह किया कि सम्मेलन के अन्तर्गत ही यह समिति काम करे। गांधीजी ने उनकी बात मान ली। फलस्वरूप सम्मेलन के अंतर्गत ही समिति काम करने

लगी। जमनालालजी ने उसका आर्थिक बोझ उठाया।

काकासाहब ने समिति के उपाध्यक्ष के नाते सारे भारत में भ्रमण शुरू किया। वे लगातार घूमते रहे। स्वभाव घुमक्कड़ का था। यह प्रवृत्ति उनके स्वभाव के अनुकूल सिद्ध हुई। भारत में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक या प्राकृतिक दृष्टि से महत्व का एक भी स्थान ऐसा नहीं होगा, जहां वे इस काम को लेकर न पहुंचे हों।

हिन्दी अगर किसी प्रदेश विशेष की भाषा न होती तो राष्ट्रभाषा के तौर पर उसका स्वीकार करने में किसी को विशेष कठिनाई महसूस न होती। पर हिन्दी उत्तर भारत की—यानी एक प्रदेश विशेष की—भाषा मानी गई थी। देश में यह भाषा सबसे अधिक प्रचलित है, साधु-संयासियों ने उसे सर्वत्र प्रचलित किया है, सबसे आसान है, सुन्दर है, मधुर है, यह सब कबूल करने पर भी लोगों के मन में एक डर था कि अंग्रेजी जायेगी और राष्ट्रभाषा के रूप में अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले लेगी। और हिन्दी के द्वारा हम अपने आप पर उत्तर भारत का राजनैतिक प्रभुत्व भी मोल लेंगे। सभी प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाएं थीं और इनमें कई तो ऐसी थीं, जो किसी भी अंग में हिन्दी से कम समृद्ध नहीं थीं। बल्कि ज्यादा ही समृद्ध थीं। यह भाषाएं हिन्दी का प्रभुत्व स्वीकार करने में हिचकिचाहट महसूस करती थीं।

काकासाहब सबको समझाते रहे कि जब अंग्रेजी जायेगी, तब उसका स्थान जनता की भाषाएं लेंगी—फिर वह चाहे छोटी हों या बड़ी, विकसित हों या अर्ध-विकसित। अंग्रेजी की जगह लेने का सबसे अधिक अधिकार इन्हीं देशी भाषाओं को है। यह जनता की भाषाएं हैं। उनकी जड़ें लोकजीवन में मजबूत हुई हैं। प्रजाराज्य तो इन्हीं भाषाओं के द्वारा चलाया जा सकता है। हिन्दी इनकी जगह नहीं लेगी। पर इन भाषाओं के अलावा हमें और एक भाषा की जरूरत है, जो इन लोक-भाषाओं के साथ संपर्क रखेगी और राष्ट्रीयता तथा सांस्कृतिक एकता का काम करेगी। इसलिए हम हिन्दी का समर्थन करते हैं।

हिन्दी इन देशी लोकभाषाओं की सेवा करेगी और उनका आशीर्वाद पाकर पनपती रहेगी।

काकासाहब यह भी कहते थे कि हिन्दी के सहारे हम सबको लड़ना है, अंग्रेजी के खिलाफ। पर हम यह न भूलें कि अंग्रेजी के पक्ष में तीन जबरदस्त ताकतें हैं। एक, अंग्रेज सरकार। दूसरी, यह सरकार चलाने वाली दफ्तरशाही—ब्यूरोक्रेसी और तीसरी, कांग्रेस के अधिकांश नेता। अंग्रेजों का राज जाने के बाद दूसरी दो ताकतों का बल बढ़ने वाला है। इसलिए अभी से लोक-भाषाओं का और

हिन्दी का पक्का सहयोग स्थापित करके हमें इन दोनों का प्रभाव कम करना है।

मतलब, अंग्रेजी का अधिराज्य तोड़ना काकासाहब की राय में इस प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य था।

दुर्भाग्यवश उत्तर भारत में हिन्दी की समस्या हिन्दू-मुस्लिम समस्या के साथ जुड़ी हुई थी। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा मानी जाती थी और उर्दू मुसलमानों की—हालांकि उर्दू के विकास में हिन्दुओं का भी काफी बड़ा हिस्सा था। अंग्रेज हिन्दू मुसलमानों को अलग रखने के लिए जिस प्रकार उनके बीच के वैमनस्य को बढ़ावा देते आये थे, वैसे ही हिन्दी और उर्दू के समर्थकों के बीच खाई पैदा करने में भी वे मशगूल रहे थे। इस खींचातानी में उत्तर भारत में ही कई लोग ऐसे निकले, जिन्होंने गांधीजी को कहा कि "आप राष्ट्रभाषा को अगर हिन्दी कहेंगे तो हिन्दी का प्रचार हिन्दू राज का ही प्रचार माना जायेगा। मुसलमान आपके साथ नहीं रहेंगे। इसलिए बेहतर यह होगा कि राष्ट्रभाषा को हिन्दी कहने के बदले हिन्दुस्तानी कहा जाय।" 'भारत में अंग्रेजी राज' पुस्तक के लेखक पं० सुन्दरलालजी इस पक्ष के अगुआ थे। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल पक्षकार माने जाते थे। गांधीजी ने आंध्र, तमिलनाडु, केरल और कर्नाटक को हिन्दी के लिए अनुकूल बना लिया था। अब असम, बंगाल, ओड़िसा, महाराष्ट्र, गुजरात और सिंध में जोरों से प्रचार शुरू कर दिया था। जो हिन्दी के अनुकूल नहीं थे ऐसे कई प्रभावशाली नेताओं को भी उन्होंने अपनी तरफ खींच लिया था। यह सारा कार्य हिन्दी हिन्दुस्तानी के नाम का झगड़ा चलाकर उन्हें बरबाद करना नहीं था। इसलिए उन्होंने राजेन्द्र बाबू जैसे को साथ में लेकर राष्ट्रभाषा का प्रचार हिन्दी-हिन्दुस्तानी जैसे द्वंद्व नाम से चलाना शुरू किया।

इस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों बिगड़े। हिन्दू कहने लगे, हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू को लाने की यह चालबाजी है। उर्दू भले इस देश की एक सांप्रदायिक भाषा बनकर रहे। उसकी उन्नति में हम अवश्य मदद करेंगे। पर उसे राष्ट्रभाषा हरगिज बनने नहीं देंगे। उधर मुसलमान कहने लगे, हम जब इस देश के राज्यकर्ता थे, हमारी राज्य भाषा थी फारसी और धर्मभाषा थी अरबी। हमने इन दोनों का आग्रह छोड़ दिया और एक स्थानिक भाषा को— खड़ी बोली को— ही अपनी भाषा मानकर उसका विकास किया। उसमें अरबी फारसी शब्द तो आने ही वाले थे। क्या वे मराठी गुजराती या बंगाली में नहीं हैं? फिर वह खड़ी बोली में आये हों तो उसमें किसी को क्या एतराज हो सकता है? हमने जो स्थानिक भाषा अपनाई उसके लिए हमने किसी समय की अंतरराष्ट्रीय लिपि अपनाई।

राष्ट्रीयता के लिए हमने इतना समझौता किया। अब उर्दू को हटाकर हिन्दुस्तानी की आड़ में आप क्या हम पर हिन्दी थोपना चाहते हैं ? हमें यह हरगिज मंजूर नहीं है।

काकासाहब उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों को समझाते रहे कि इस वक्त तो हम दोनों लिपियों को स्वीकार करते हैं—नागरी और उर्दू। इसी तरह हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों की समस्त शब्दावली को भी हम मंजूर करते हैं। राष्ट्रभाषा में दोनों के लिए स्थान है। राष्ट्रभाषा को हम हिन्दी भी कहेंगे और हिन्दुस्तानी भी। क्योंकि दोनों की हमारी व्याख्या एक ही है। देश का दुर्दैव है कि देश में ऐसे दो दल पैदा हुए हैं, जो एकता के हरएक प्रयास का विरोध करते हैं। कहींसे भी झगड़ा करके देश और समाज के दो टुकड़े किये बिना उन्हें सन्तोष ही नहीं होता। राष्ट्रीय एकता के लिए हम जो राष्ट्रभाषा आंदोलन चला रहे हैं, उसमें अगर झगड़ा ही पैदा होने वाला हो तो हम इस आंदोलन को आगे क्यों चलायें ? जो लोग गुलाम रहकर ही शान्त रहना चाहते हैं, उनके लिए अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा अच्छी है। क्योंकि उनके लिए गुलामी ही राष्ट्रीय एकता का एकमात्र साधन है।

पर जब वहम बढ़ जाते हैं, ठंडे दिमाग से सोचने की शक्ति कम हो जाती है तो अबुद्धि का ही राज्य चलने लगता है। यह अबुद्धि का राज्य लगातार चलता रहा। तिस पर भी दक्षिण तथा पूर्व पश्चिम के अहिन्दी प्रान्तों में दोनों लिपियों और दोनों शैलियों में राष्ट्रभाषा सीखने वाले हजारों लोग परीक्षाओं में बैठते रहे। "राष्ट्रीय प्रेम का निश्चय ही यह तकाजा है।" यह गांधीजी की सिखावन यहां काम करती आई थी। हिन्दी हिन्दुस्तानी का प्रचार कार्य बड़े जोर-शोर के साथ चले इस हेतु काकासाहब ने वर्धा में एक विद्यालय शुरू किया। अहिन्दी प्रदेशों से कई युवक इस विद्यालय में आते रहे। और शिक्षा पाकर अपने-अपने प्रदेशों में जाकर राष्ट्रभाषा प्रचार का काम करते रहे।

राष्ट्रभाषा प्रचार के काम के साथ-साथ काकासाहब ने और एक काम हाथ में लिया—नागरी लिपि सुधार का। वे कहने लगे, नागरी की वर्णमाला शास्त्र शुद्ध है, वैज्ञानिक है। पर उसकी लिपि प्रिंटिंग प्रेस आने के पहले की है। वर्णमाला और लिपि अलग-अलग चीजें हैं। वर्ण श्रवण का विषय है। तो लिपि देखने की और हाथ से लिखने की चीज है। नागरी वर्णमाला जैसी वैज्ञानिक है, वैसी नागरी लिपि वैज्ञानिक नहीं है। वह ऐतिहासिक क्रम से बनते-बनते बन गई है। उसके कई रूप हैं—गुजराती, बंगाली, उड़िया, कन्नड़, तेलुगु। यह सभी देवनागरी के ही प्रादेशिक रूप हैं। अंग्रेजी को रोमन लिपि की होड़ में

नागरी परास्त हो सकती है, इसलिए उसमें जो कम से कम परिवर्तन आवश्यक हैं, हमें करने चाहिए। मुद्रण, मुद्रालेखन, दूरलेखन और शीघ्रलेखन आदि क्षेत्रों में उसकी शक्ति बढ़ाने के हेतु से भी यह परिवर्तन आवश्यक है। उन्होंने इस पर काफी विचार किया था और कुछ सुधार भी किये थे। 1935 में इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ था, इसमें वे गांधीजी के साथ उपस्थित रहे थे। गांधीजी के सामने उन्होंने अपने यह लिपि विषयक सुझाव रखे और उनका समर्थन भी पाया। इन्दौर के अधिवेशन में नागरी लिपि सुधार परिषद भी चली। दो तीन साल के प्रयत्नों के बाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने काकासाहब के सुधार मान्य किये। पर कहा, "इसका प्रचार फिलहाल हिन्दी प्रदेशों में न हो। अहिन्दी प्रदेशों में जहां हिन्दी का प्रचार चल रहा है, वहीं तक यह सुधार सीमित रहें।" काकासाहब ने यह मंजूर किया। फलस्वरूप, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से जो पाठय पुस्तकें तैयार हुईं, उनमें यह सुधरी हुई नागरी अपनाई गई। गांधीजी ने अपने हिन्दी 'हरिजन सेवक' साप्ताहिक के लिए भी उसको स्वीकार किया। यही नहीं, नवजीवन प्रकाशन मंदिर की ओर से हिन्दी में गांधीजी की जो पुस्तकें प्रकाशित होती थीं, वह भी इसी लिपि में छपने लगीं।

साथ-साथ काकासाहब ने हिन्दी के लिए एक शीघ्र लिपि भी तैयार की। तार हिन्दी में भेजे जा सकें, इसलिए उसकी एक विद्युतलिपि भी तैयार की। और टाइप राइटर के लिए उसका एक 'की बोर्ड', शब्द-फलक, भी तैयार किया।

गजानन दाबके और पांडुरंग भुरके जैसे दो मराठी नौजवानों की उन्हें इस काम में काफी मदद मिली थी।

हिन्दी शीघ्र-लेखन और टाइपराइटिंग की योजना हाथ में ली, तो उसे सफल बनाने के लिए विद्यार्थी तैयार करना भी आवश्यक था। काकासाहब ने वर्धा में हिन्दी शीघ्रलिपि और हिन्दी टाइपिंग के भी वर्ग खोले। विभिन्न प्रांतों से उसमें विद्यार्थी आने लगे।

वर्धा गांधीजी का मुख्यालय बन गया था। जमनालाल बजाज का मुख्यालय तो वह पहले से ही था। उन्हीं के आमंत्रण से गांधीजी से पहले विनोबा यहां आ गये थे और अपना एक आश्रम चला रहे थे। फिर काकासाहब आये, किशोरलाल मश्रूवाला आये। खादी के प्रमुख कार्यकर्ता आ गये, तब चरखा संघ यहीं से चलने लगा। कुमाराप्पा आये, तब ग्रामोद्योग संघ यहीं स्थापित हुआ। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में लगी हुई सभी संस्थाओं के मुख्य कार्यालय यहीं से चलने लगे थे।

जमनालालजी की कोशिश से 1939 में 'गांधी-सेवा-संघ' की स्थापना हुई। उसके सालाना अधिवेशन हर साल किसी-न-किसी प्रदेश में होने लगे। राजनैतिक तथा रचनात्मक क्षेत्र में काम करने वाले गांधी विचार धारा के सब छोटे बड़े कार्यकर्ता इन अधिवेशनों में इकट्ठा होते थे। इनमें गांधी सिद्धांतों और विचारों की काफी छानबीन होती रहती थी। संघ की ओर से 'सर्वोदय' नामक एक हिन्दी मासिक पत्रिका शुरू कर दी। इसके संपादन का भार काकासाहब और दादा धर्माधिकारीजी ने उठाया।

काकासाहब को अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक नया माध्यम मिल गया। वे 'सर्वोदय' में नाना विषयों पर अपने मौलिक विचार हिन्दी में लिखने लगे। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से 'सबकी बोली' नामक एक पत्रिका शुरू हुई थी। इसके भी संपादक काकासाहब थे। अपने विचार भारत भर के लोगों के सामने रखने के लिए काकासाहब को अब यह दो माध्यम मिल गये थे।

इसी अरसे में गांधीजी ने देश के सामने शिक्षा का अपना क्रान्तिकारी विचार रखा, जिसे बाद में दुनिया 'बुनियादी तालीम' या 'नई तालीम' के नाम से पहचानने लगी। इस शिक्षा पद्धति के आविष्कार में काकासाहब का हिस्सा रहा था। और वे इसे गांधीजी की देश के लिए सर्वोत्तम देन मानते थे। इसलिए इस पद्धति को आगे ले जाने के लिए जब सेवाग्राम में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की स्थापना हुई, तब काकासाहब इस संघ को पाठ्यक्रम वगैरह बनाने के काम में मदद देने लगे। राष्ट्रभाषा प्रचार के सिलसिले में जब वे देश के अलग-अलग हिस्सों का दौरा करते थे, तब राष्ट्रभाषा प्रचार केन्द्रों के साथ-साथ इस वर्धा शिक्षण योजना को अमल में लाने वाली संस्थाओं में भी जाते थे। उन्हें सुझाव देते और मदद करते थे।

1938 की बात है। सेवाग्राम में खजूर के मीठे रस से, जिसे नीरा कहते हैं, गुड़ बनाने का प्रयोग चल रहा था। उन दिनों नीरा पीने का रिवाज बहुत कम लोगों में था। सेवाग्राम में गुड़ बनाने का उद्योग शुरू हुआ, उसके साथ-साथ नीरा पीने का भी रिवाज शुरू हुआ। सेवाग्राम से एक दिन एक नौजवान टीन में नीरा लेकर काकासाहब के पास आया। काकासाहब के आसपास उस समय उनके चार-पांच साथी बैठे थे। इस नौजवान ने काकासाहब के साथ इन साथियों को भी नीरा पिलाई। महिलाश्रम के एक शिक्षक नाना आठवले काकासाहब से मिलने आये थे। उन्हें भी पिलाई।

वर्धा में उन दिनों हैजे की बीमारी फैली हुई थी। नीरा पीकर काकासाहब और उनके साथियों को हैजा हो गया। उसमें काकासाहब के दो साथी पांडुरंग

भुरके और गजानन दाबके दोनों चल बसे। कुछ दिनों के बाद नाना आठवले भी चल बसे।

काकासाहब की तबीयत इतनी गिर गई थी कि आसपास के लोगों ने उनकी भी करीब-करीब आशा छोड़ दी थी। गांधीजी, महादेवभाई, विनोबा सभी चिंतित थे। आखिर डाक्टरों की चिकित्सा के साथ काकासाहब के मनोबल ने और 'बापू जी को फिक्र होगी' इस भावना ने काम किया। और वे बच गये।

इस हैजा प्रकरण को लेकर कुछ मराठी अखबारों ने बड़ा बवंडर उठाया। उन्होंने गांधी विरोध का मानो एक कल-कारखाना ही शुरू कर दिया था। गांधीजी को बदनाम करने के लिए यह अखबार सभी मर्यादाएं भूल गये थे और इस हद तक आरोप लगाने लगे कि गांधीजी ने अपने महाराष्ट्रीय साथियों को नीरा में जहर डालकर मारने की कोशिश की थी। अपने प्रिय महाराष्ट्र की यह गिरी हुई हालत देखकर काकासाहब को जो मनःपीड़ायें हुईं, वह बीमारी की पीड़ाओं से भी उन्हें असह्य मालूम हुईं।

इस बीमारी के आराम के दिनों में उनके बेलगांव और बड़ौदा के साथी नागेशराव गुणाजी की बेटी इन्दुमती उनके पास उनकी सेवा में आकर रही थी। उसको काकासाहब ने खलील जिब्रान की 'सेण्ड अण्ड फोम' पुस्तक का मराठी में अनुवाद लिखवाया, जो 'मृगजलांतील मोती' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

तबीयत पूरी सुधरते ही वे फिर राष्ट्रभाषा प्रचार के कार्य में जुट गये। काम जोरों से चल रहा था। अब इसमें हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने दखल देना शुरू किया। गांधीजी और काकासाहब (और उनके अनुसरण में बहुत से कांग्रेसी नेता) राष्ट्रभाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग करते थे। इस पर सम्मेलन के नेता आपत्ति उठाने लगे। राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए, परीक्षाओं की पुस्तकों में जहां तक हो सके उर्दू शब्द टालने चाहिए, इस प्रकार का आग्रह उन्होंने शुरू किया। यही नहीं, सम्मेलन यहां तक आगे गया कि उसने 'हिन्दी शब्द-सागर' की एक प्रति काकासाहब के पास भेज दी और इसमें लाल नीली पेंसिल से निशान लगाकर उन्हें यह बताया गया कि राष्ट्रभाषा में किन शब्दों का प्रयोग होना चाहिए और किन शब्दों का नहीं।

बात यहीं नहीं रुकी। 1940 में पूना में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसमें राष्ट्रभाषा की गांधीजी की व्याख्या बदल दी गई। गांधीजी ने जो व्याख्या की थी, उसमें कहा गया था कि "वही भाषा राष्ट्रभाषा

है, जिसे उत्तरी हिन्दुस्तान के लोग समझ सकें और जो नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाती हों।" उसमें सम्मेलन ने इस प्रकार बदल किया : "जो मुख्यत: नागरी लिपि में और कहीं-कहीं फारसी लिपि में लिखी जाती है।"

वस्तुत: वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का हिन्दी साहित्य सम्मेलन से केवल वैधानिक संबंध था। प्रचार करना, संगठन करना, पैसे इकट्ठा करना आदि सारा काम गांधीजी, काकासाहब या इन्हीं के साथी करते आये थे। सम्मेलन की पाई भी इसमें खर्च नहीं होती थी। पूना सम्मेलन के बाद काकासाहब ने टंडनजी से कहा था, "इतना मौलिक और बुनियादी विरोध हो तो गांधीजी की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ में नहीं रखी जा सकती। उसको स्वतंत्र करना होगा।"

टंडनजी ने कहा, "सारी प्रवृत्ति आप ही ने संगठित की है। गांधीजी चाहें और पूरी प्रवृत्ति को सम्मेलन से अलग करें, तो उसे मैं सहन करूंगा। किन्तु गांधीजी की हिन्दुस्तानी नीति को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकेंगे।" गांधीजी को भी अब यह महसूस होने लगा कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को उसकी स्थापना के समय से ही सम्मेलन से अलग रखा होता तो अच्छा होता। अब तो उसे अलग कर ही देना चाहिए।

1941 में अबोहर में सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसके अध्यक्ष पद के लिए वर्धा समिति की ओर से राजेन्द्रबाबू का नाम रखा गया था। पर सम्मेलन ने चुनाव में राजेन्द्रबाबू को हराया और उनकी जगह डा० अमरनाथ झा को अध्यक्ष चुन लिया। इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित हुआ, जिसमें कहा गया कि—

"उर्दू हिन्दी से उत्पन्न उसका अरबी-फारसी मिश्रित एक रूप है। हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का भी समावेश है। किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली (जो थोड़े से आदमियों तक सीमित है) हिन्दी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है। और उसे हिन्दी से भिन्न मानता है···सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अपने और अपनी समितियों के काम में हिन्दी शैली का और उसके लिए हिन्दी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।"

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति अभी सम्मेलन से अलग नहीं हुई थी। अत: उसके लिए यह प्रस्ताव बंधनकारक माना गया। फलस्वरूप, गांधीजी, काकासाहब, राजेन्द्रबाबू, जमनालालजी आदि उसके संस्थापक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से अलग हो गये। गांधीजी को अपने रचनात्मक कार्य की दृष्टि से राष्ट्रभाषा

प्रचार के लिए अब नई संस्था की स्थापना करनी पड़ी। मई 1942 में उन्होंने "हिन्दुस्तानी प्रचार सभा" नामक एक नई संस्था स्थापित की।

पर, यह संस्था अपने काम को व्यवस्थित रूप दे सके इससे पहले ही अगस्त 1942 में "भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू हुआ। और देश के सभी छोटे बड़े राष्ट्रीय नेता और कार्यकर्ता जेल पहुंच गये।

अगस्त आंदोलन और जेल

काकासाहब भी जेल पहुंच गये।

सितम्बर 1939 में जब दूसरा विश्व-युद्ध शुरू हुआ, काकासाहब की कलम ने बड़े तेजस्वी और ओजस्वी लेखों को जन्म देना शुरू किया था। गांधीजी ने तो अपनी अहिंसा के लिए यह कसौटी का समय माना था। केवल आजादी पाने के एक हथियार के रूप में उन्होंने अहिंसा का समर्थन नहीं किया था। अहिंसा से आंतर राष्ट्रीय क्षेत्रों की जटिल से जटिल समस्याएं भी हल की जा सकती हैं, यह उनका दावा था। युद्ध की भीषणता ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यों-त्यों अहिंसा की अमोघता में उनका विश्वास भी बढ़ता गया। चारों ओर जब हिंसा का तांडव चल रहा हो, तब गांधीजी खामोश नहीं बैठ सकते थे। उन्होंने युद्ध को अपनी अहिंसा के लिए एक चुनौती माना और एक मौका भी माना। वे दुनिया के छोटे राष्ट्रों के सामने सुझाव रखने लगे। वे कहते रहे : "यों भी तो आप मरने के रास्ते ही अग्रसर हो रहे हैं। आखिर मरना ही है, तो बलिदान देकर मरें, शिकार होकर नहीं।" उनकी अहिंसा चरम कोटि के बलिदान की ही दीक्षा दे सकती थी।

काकासाहब विचारों में गांधीजी के साथ एकरूप हो गये थे। अहिंसा अब उन के लिए गांधीजी से ली हुई दृष्टि नहीं रही थी। वह उनकी अपनी दृष्टि बन गई थी। वे गांधीजी के सुर में अपना सुर मिलाकर अहिंसा की युद्ध नीति के अलग-अलग पहलुओं पर बोलने लिखने लग गये। 'सर्वोदय' में उन्होंने इस विषय में एक के बाद कई लेख लिखे।

1919 में गांधीजी ने इस देश में अपने अहिंसा के प्रयोग शुरू किये, तब से लेकर आजतक के वर्षों में देश ने जो प्रगति की थी, वह काकासाहब की दृष्टि में केवल इस देश के इतिहास में नहीं, बल्कि दुनिया के इतिहास में बेमिसाल थी। इस प्रगति की बुनियाद में कौन से तत्व, कौनसी शक्तियां, कौनसी प्रेरणाएं थीं, जिनके कारण हम एक मुरदार देश में प्राण का संचार कर सके, उसमें आत्म-विश्वास और सामर्थ्य पैदा कर सके, इसकी ओर वे लोगों का ध्यान खींचने लगे। और इन तत्वों की स्वाभाविक परिणति क्या हो सकती है, यह भी दिखाने लगे।

उन्होंने यह अनुभव किया था कि गांधीजी इस देश में अहिंसा का और एक बड़ा प्रयोग करने जा रहे हैं, जो उनका सबसे बढ़िया प्रयोग सिद्ध होने वाला है। उसके लिए देश को तैयार करना काकासाहब का अपना मिशन बन गया था। 1939 के सितम्बर से 1942 के अगस्त तक के समय में काकासाहब ने इस विषय पर जो लिखा है, वह प्रासंगिक होते हुए भी नितांत मौलिक है। सत्याग्रह के वैज्ञानिक विवरण की दृष्टि से वह आज भी उतना ही संगत है,जितना उन दिनों था।

इन दिनों लिखे हुए मृत्यु विषयक लेख तो सबसे अधिक ध्यान खींचते हैं। जिस दिन 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ, उस दिन काकासाहब बम्बई में थे। जिस सभा में यह प्रस्ताव पास होने वाला था, उसमें जाने से पहले गांधीजी ने बिरला हाउस में एक खास प्रार्थना आयोजित की थी। काकासाहब इस प्रार्थना में भी उपस्थित थे। गोवालिया टैंक के मैदान में उन्होंने गांधीजी का वह प्रेरक भाषण भी सुना, जिसमें उन्होंने देश को 'करेंगे या मरेंगे' का मंत्र दिया था।

दूसरे दिन सुबह उन्हें मालूम हुआ कि गांधीजी गिरफ्तार कर लिये गये हैं। गांधीजी के साथ उनके सब कांग्रेसी साथी भी गिरफ्तार हुए हैं। उसी दिन काका साहब वर्धा लौट आये और किशोरलालभाई और कुमारप्पाजी जैसे अपने साथियों के साथ बैठकर 'करेंगे या मरेंगे' मंत्र को कार्यान्वित करने की योजनाएं बनाने लगे।

गांधीजी की गिरफ्तारी के कारण समूचा देश भभक उठा था। काकासाहब को यह महसूस होने लगा कि आंदोलन को अगर अहिंसा की मर्यादा में रखना हो तो देश के कार्यकर्ताओं के सामने तोड़फोड़ की—अलबत्ता अहिंसक—भी एक योजना रखनी चाहिए। वरना आंदोलन उच्छृंखलता में बह जाने का डर है। फिर उस पर किसी का भी नियंत्रण नहीं रहेगा। वह बेलगांम हो जायेगा। काकासाहब ने अपनी इस योजना के बारे में किशोरलालभाई और कुमारअप्पा-जी से चर्चा की ओर कुछ लेख लिखे। वे कहने लगे, "मान लीजिये, हमें सरकार की फौजी संचलन को रोकना है। इस उद्देश्य से अगर हम रेलवे का कोई पुल उड़ा देना चाहते हों, तो अवश्य उड़ा सकते हैं। पर,पुल उड़ाने से पहले सरकार को इसकी सूचना देनी होगी। और इसमें हिस्सा लेने वालों को अपना नाम भी बताना होगा। यह तोड़फोड़ अहिंसा के व्याकरण में बिठाई जा सकती है।"

महिलाश्रम की लड़कियों ने काकासाहब के इन लेखों की नकलें कीं और वह कार्यकर्ताओं में बांट दीं। इन लड़कियों से उन्होंने कहा, 'कोई पूछे तो कह देना

कि यह काकासाहब के लेख हैं और उनकी अनुमति से ही हम बांट रही हैं।'

अगस्त के अन्त में काकासाहब भी गिरफ्तार कर लिए गए। इसके बाद कुछ भूमिगत कार्यकर्ताओं ने उनकी सूचनाओं में कुछ 'सुधार' किये। जेल में जब इन सुधारों की खबर आई तब किशोरलालभाई बड़े दुःखी हुए। उनका भी नाम इस अहिंसक तोड़फोड़ की सूचनाओं के साथ जुड़ा था। उनको लगा, हमने हिंसा को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने सरकार को पत्र लिखकर अपना खेद प्रकट किया। इससे अरुणा आसफ अली दुखी हुईं। उन्होंने जेल में काकासाहब को संदेश भेजकर पूछा,'किशोरलालभाई की तरह कहीं आप भी तो हमें निराश नहीं करेंगे ?'

काकासाहब ने उनको जवाब दिया, 'मुझे पश्चाताप करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। मैं तो इस विषय पर जेल में एक प्रबंध लिखना चाहता हूं।'

अबकी बार सरकार ने काकासाहब को किसी एक जेल में नहीं रखा। वर्धा, नागपुर, अकोला, जबलपुर वेलोर और सिवनी—कुल मिलाकर छह जेलों में घुमाया।

विनोबा और किशोरलालभाई जेल में उनके साथ थे। विनोबा को तो उन के साथ एक ही कमरे में रखा गया था। तीनों गांधी विचार धारा के वरिष्ठ प्रवक्ता थे। तिस पर तीनों स्वतंत्र प्रज्ञा के थे। पिछले पच्चीस वर्षों से वैचारिक भूमिका पर वे साथ-साथ रहे थे। स्वाभाविक रूप में उनके बीच भाषा, लिपि, साहित्य, अहिंसा, संस्कृति, गांधी, राष्ट्र जीवन और मानव जीवन की असंख्य समस्याओं को लेकर चर्चाएं चलती रहीं। तीन साल तक लगातार वे चर्चाएं करते रहे। विनोबा तो कभी-कभी रात के बारह बजे काकासाहब को नींद से जगाते और चर्चा चलाते।

अध्ययन और लेखन के लिए काकासाहब को यहां काफी अवकाश मिला। 1945 में जब वे जेल से रिहा हुए, अपने साथ निम्न पुस्तकों की पांडुलिपियां लेकर आये थे।

1. गीता के सौ अर्थघन शब्दों का मनन। 'गीता रत्न प्रभा' के नाम से वह हिन्दी में प्रकाशित हुआ है।

2. गांधीजी के 'गीता पदार्थ कोश' की परिवर्द्धित आवृत्ति, जो इसी नाम से प्रकाशित हुई है।

3. रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' और 'नैवेद्य' के हर गीत का व्याख्यात्मक भावानुवाद (मराठी में) जो 'रवीन्द्र मनन', 'रवीन्द्र वीणा', 'रवीन्द्र झंकार' और 'नैवेद्य' के नाम से चार खण्डों में प्रकाशित हुआ है।

4. रविबाबू की 'लिपिका' का अनुवाद (मराठी में) और उसकी हर कथा की व्याख्या, जो 'रवीन्द्रभेचे प्रति-कोवले किरण' के नाम से छपा है।

5. रविबाबू के 'मालंच' नामक उपन्यास का मराठी अनुवाद, जो इसी नाम से प्रकाशित हुआ है।

6. गांधीजी के करीब सौ शब्दचित्र (हिन्दी में), जो 'बापू की झाँकियां' के नाम से बहुत लोकप्रिय हुए हैं।'

7. 'स्मरण-यात्रा' का अगला हिस्सा (मराठी में), जो अभी तक अप्रकाशित रहा है।

8. प्रकीर्ण लेखों की कई कापियां। और—

9. कुष्ट रोग संबंधित एक अंग्रेजी उपन्यास 'हू वाक्स अलोन' का किशोरलाल भाई के साथ किया हुआ गुजराती अनुवाद, जो 'मानवी खंडीयेरो' के नाम से छप चुका है।

स्वराज्य

हिन्दुस्तानी की नीति में काकासाहब का सौ फीसदी विश्वास था। वे मानते थे कि राष्ट्रभाषा के लिए गांधीजी की बताई हुई यही नीति दुरुस्त है। पर जेल में वे महसूस करने लगे कि एक नई संस्था खड़ी करने के लिए जो शक्ति और उत्साह की आवश्यकता है, वह उनमें अब नहीं है। सेहत भी अब पहले जैसी नहीं है। इसलिए 1945 में जब वे जेल से रिहा होकर आये, उन्होंने गांधीजी से अनुरोध किया कि हिन्दुस्तानी के प्रचार के काम से वे उन्हें मुक्त करें।

काकासाहब के एक निकट के साथी अमृतलाल नाणावटी ने गुजरात में स्वयं-स्फूर्ति से हिन्दुस्तानी का प्रचार शुरू कर दिया था। अगस्त आंदोलन में सरकार ने उन्हें पकड़ा नहीं था (हालांकि वह सब जगह खुल्लमखुल्ला घूमते थे)। उनका ख्याल था कि काकासाहब आदि गिरफ्तार हुए नेता दो-तीन महीनों में रिहा कर दिए जायेंगे। उन्होंने एक साल तक प्रतीक्षा की। पर जब किसी के रिहा होने के आसार दिखाई नहीं दिये, उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया था। गांधीजी के रिहा होने पर नाणावटीजी ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के नाम से दो लिपियों में परीक्षाएं भी लेना शुरू कर दिया था। उनके काम से गांधीजी बड़े प्रसन्न थे। वे अब भी हिन्दुस्तानी की जरूरत महसूस करते थे। बल्कि अब तो जब हिन्दू मुसलमान एक दूसरे से दूर होते जा रहे थे, हिन्दुस्तानी को विशेष महत्व है, ऐसा मानते थे। इसलिए जब काकासाहब ने हिन्दुस्तानी के काम से मुक्त होने की इच्छा प्रकट की, उन्हें बड़ा दुख हुआ। उन्हें काकासाहब

की इच्छा में सत्वहानि दिखाई दी। उन्होंने उनको जवाब दिया, "यह काम अब तो छोड़ा नहीं जा सकता। काम आपका ही है। आप इसके विशारद हैं। आप जेल में थे और मैं पहले रिहा होकर आया था, इसलिए मैंने वह संभाला और यथाशक्ति चलाया था। अब आपको यह अपने हाथ में लेना है।"

गांधीजी से इस तरह का जवाब पाने के बाद काकासाहब ने हिन्दुस्तानी प्रचार का काम पहले की जैसी ही लगन के साथ हाथ में लिया। पर काम आसान नहीं था। 1946 में हिन्दू मुस्लिम दंगों ने बड़ा ही भद्दा रूप ले लिया। इन दंगों से तंग आकर कांग्रेस के नेता देश के विभाजन के लिए भी तैयार हो गए। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्यों में भी कुछ सदस्य ऐसे दिखाई दिए, जो मजबूरी से क्यों न हो, हृदयभेद के लिए तैयार हो गए थे। गांधीजी हृदयभेद को स्वीकारने के लिए कतई तैयार नहीं थे। वे कहने लगे थे, "देश भले हारे। हम क्यों हारें? हम अपने आदर्शों को नहीं छोड़ेंगे।" काकासाहब संपूर्णतः गांधीजी के साथ रहे। पर वे अब महसूस करने लगे थे कि राष्ट्रीय एकता में मानने वाले भी अब हिन्दुस्तानी के पक्ष में नहीं रहेंगे। एकता अगर अंग्रेजी के द्वारा स्थापित होती हो, तो वे अंग्रेजी को यहां कायम रखेंगे। सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान एक हैं, एक हो सकते हैं, यह आशा इन लोगों ने छोड़ दी है। और बावजूद गांधीजी के देश की बागडोर इन्हीं लोगों के हाथ में है।

14 अगस्त 1947

भले ही विभाजन की कीमत देकर, पर आज का दिन समाप्त होते ही रात के बारह बजे भारत पूर्ण स्वतन्त्र होने जा रहा था। पंद्रह अगस्त का सूरज स्वतंत्र भारत में उगने वाला था। सदियों बाद हम एक स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक के रूप में सांस लेने वाले थे।

काकासाहब इस दिन एक ट्रेन में थे। बंगाल, बिहार और असम के बीच के पार्वतीपुर नामक एक स्टेशन पर रात के बारह बजे ट्रेन रुककर स्वतंत्र भारत का स्वागत करने वाली थी।

काकासाहब सारी रात जागते रहे। उनकी आंखों के सामने अपना पूरा जीवनपट सरकने लगा—

ठेठ बचपन में अपने भाई विष्णु की मृत्यु के बाद कलेक्टर ने पिताजी का जो अपमान किया था, वह असह्य होकर छोटे दत्तू के स्वरूप में उन्होंने प्रतिज्ञा ली थी कि "मैं इन गोरे अंग्रेजों का राज तोड़ डालूंगा। जिन्दगी में और कुछ नहीं करूंगा।" यह दृश्य सबसे पहले उनकी आंखों के सामने आया। इस दृश्य के बाद कई दूसरे दृश्य एक के बाद एक आते रहे। कालेज की पढ़ाई के दिनों में छत्र-

पति शिवाजी की तस्वीर के सामने सावरकर की उपस्थिति में मातृभूमि को मुक्त करने की शपथ ली थी, उसका स्मरण हो आया। फिर फांसी के तख्त पर लटके हुए कई साथियों का स्मरण हुआ।

राष्ट्रमत, गंगनाथ विद्यालय, हिमालय··

कितनी योजनाएं बनाई थीं। कितने प्रयत्न किए थे। कितनी विफलताएं मोल ली थीं।

देश को स्वतन्त्र करना कितना कठिन है, यह ज्यों-ज्यों प्रतीत होता गया, त्यों-त्यों देश के लिए मर मिटने का संकल्प दृढ़ और दृढ़तर होता रहा। स्वराज्य देखने की कोई उम्मीद नहीं रखी थी। यही माना था कि स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्नों में शरीर गिरेगा। उसी में प्रतिज्ञापूर्ति का सन्तोष मानना होगा।

फिर···

गांधीजी आये। उनके पीछे चलते-चलते स्वराज्य देख सके।

जीवन की यह कितनी बड़ी धन्यता है!

सोचते-सोचते रात के बारह बजे। पार्वतीपुर स्टेशन पर जितनी गाड़ियां खड़ी थीं, सबने अपने भोंपू बजाये। भारत की स्वतन्त्रता का यह जयनाद सुनते ही काकासाहब की आंखों में आनंद उमड़ पड़ा। उनके साथ उनकी मानस-कन्या सरोज बहन थीं और साथी अमृतलाल नाणावटी थे। तीनों ने एक साथ प्रार्थना की। अमृतभाई ने अपनी सुरीली आवाज में 'आज मिल सब गीत गाओ' भजन गाया। प्रार्थना पूरी होते ही काकासाहब गद्‌गद हो उठे। और उन्होंने सरोज बहन और अमृतभाई दोनों को गले लगाया।

और तुरन्त गांधीजी को पत्र लिखा—

'परम पूज्य बापूजी,

परमात्मा की कृपा से और आपके पुण्य प्रताप से हम आज का दिन देख सके। स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा मैंने 1906 में ली थी। तब से जीवन ने कई पल्टे खाये। पर यह एक संकल्प अविचल रहा। वही मुझे हिमालय से वापस सेवा क्षेत्र में ले आया। 1915 में शान्तिनिकेतन में आपके दर्शन हुए। देश की स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक मोक्ष दो भिन्न आदर्श नहीं हैं, इस बात का स्पष्ट साक्षात्कार आप ही ने करा दिया। इसलिए मैंने अपनी तुच्छ सेवाएं आपके चरणों में रख दीं। तब से देश की स्वतन्त्रता का अर्थ भी स्पष्ट होता गया है। आज जब सारे देश के साथ हृदय की उमंग से स्वातंत्र्य प्राप्ति का उत्सव मना रहा हूं, तब दिल कहता है कि सच्ची स्वतन्त्रता तो अभी दूर ही है। फिरभीयह विश्वास है कि वह नजदीक आ ही जायेगी।···

···भविष्य में जो भी करूंगा उसमें सांप्रदायिक एकता और दीन, दबे, पतित लोगों की सेवा यही मुख्य उद्देश्य रहेगा। इस काम के लिए जो दृष्टि, निष्ठा और पवित्रता आवश्यक है, वह मुझे उपलब्ध हो यही आशीर्वाद आप मुझे दें।

···परम आनन्द की बात है कि मेरे मन में अंग्रेजों के प्रति जो द्वेष दृढ़मूल हुआ था, वह पिछले पैंतीस वर्षों में धीरे-धीरे कम होकर आज संपूर्णतः नष्ट हो गया है। आपके चरणों का सेवन किया उसी का यह प्रताप है।

आज महादेवभाई का स्मरण हुए बिना कैसे रहेगा ?

आपके पुण्य चरणों में
सेवक काका के सादर प्रणाम।

पांच साल पहले इसी दिन—पन्द्रह अगस्त को—महादेवभाई का पूना के आगाखां महल में निधन हुआ था।

कुछ दिनों के बाद 6 सितम्बर 1947 के दिन दिल्ली में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की कार्य समिति की बैठक हुई। गांधीजी कलकत्ते में थे। पर उन्होंने कार्य-समिति में पास करने के लिए एक प्रस्ताव का मसविदा भेजा, जिसमें कहा गया था—

> 'हिन्दुस्तान के दो हिस्से हो गये हैं। एक का नाम पाकिस्तान है, दूसरे का इंडियन यूनियन। क्या, हमारे दिल के भी दो टुकड़े हो गए हैं ?··· क्या दो हुकूमतें बनी हैं, तो राष्ट्रभाषा भी दो बनेंगी ?···आंदोलन हो रहा है कि यूनियन की नागरी लिपि में हिन्दी और पाकिस्तान की उर्दू लिपि में उर्दू राष्ट्रभाषा हो। अगर यह बात दोनों टुकड़ों में कबूल हो गई तो साफ सबूत होगा कि दोनों के दिल भी जुदा हैं। इससे अधिक दुख की बात क्या हो सकती है ? इस दुख को रोकना हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का फर्ज हो जाता है। और ऐसी आशा रखी जाती है कि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सभासद और हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचारक हिन्दुस्तानी को, जो नागरी और फारसी दोनों लिखावटों में लिखी-पढ़ी जाती है, फैलाने में भरसक मेहनत करेंगे।'

इस बैठक के पहले गांधीजी से चर्चा चल रही थी। तब एक महाशय ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों की गिनती करते हुए कहा कि अमुक करोड़ की मुसलमानों की संख्या में से पाकिस्तान के अमुक करोड़ मुसलमानों को कम कीजिए। तब गांधीजी गंभीर आवाज में बोले, "कम क्यों करें ? मेरे लिए

तो कश्मीर से कन्याकुमारी तक सारा देश एक है। एक देश में दो हुकूमतें चलती हैं।"

काकासाहब लिखते हैं, 'गांधी-निष्ठा के कारण मुझसे जितना हो सका, उतना मैंने किया। एक मजे की बात है कि पं० सुन्दरलालजी की सूचना के अनुसार हमने दो लिपि वाली हिन्दुस्तानी का प्रचार शुरू किया था। अब जब मैंने उन्हें मदद के लिए बुलाया, तो उन्होंने ठंडे दिल से कहा, मैं तो अब दोनों लिपियां छोड़कर रोमन लिपि चलाने के पक्ष में हूं। मैंने अपने मन में समझा कि गांधीजी ने जो नीति चलाई है, वही देश के लिए हितकर है।'

वे यही नीति चलाते रहे।

गांधीजी की हत्या

स्वराज्य मिले छह महीने भी पूरे नहीं हुए थे, 30 जनवरी 1948 के दिन शाम को गांधीजी की हत्या हुई। काकासाहब उस दिन कलकत्ते में थे। हत्या के दुःखद समाचार मिलते ही उनकी आंखों में आंसू आ गए। दूसरे ही क्षण वे बोल उठे, "नहीं, उनका झंडा हम नीचे गिरने नहीं देंगे।"

न मालूम क्यों, जवानी में प्रवेश किया तभी से काकासाहब कहते आये थे कि उन्हें साठ साल से अधिक जीना नहीं है। आज उनकी आयु पैंसठ साल की थी। साठ से पांच साल अधिक। जिस संकल्प को लेकर जीते आए थे— जिसे उन्होंने अपने जीवन का सबसे अहम संकल्प माना था, वह स्वराज्य का संकल्प भी पूरा हो चुका था। अपना भविष्य बनाने या बिगाड़ने की सत्ता अपने हाथ में हो, इसी मर्यादित अर्थ में ही उन्होंने स्वराज्य को लिया था। यह सत्ता अब हमारे हाथ में आ चुकी थी। भविष्य के लिए उनका अपना कोई खास संकल्प नहीं था, कोई योजना नहीं थी। जो काम हाथ में अनायास आ जाते हैं या आ सकते हैं, उन्हें ईश्वर के भेजे हुए मानकर लगन के साथ करना इतनी ही मर्यादा उन्होंने अपने लिए बांध रखी थी। किसी संस्था की जिम्मेदारी उठाने का उत्साह उनमें नहीं था, न ही उनमें वह शक्ति बची थी। गांधीजी की हत्या ने उन्हें सारी परिस्थिति का फिर से विचार करने के लिए बाध्य किया। वे बड़ी उत्कटता के साथ सोचने लगे—

"पंद्रह अगस्त की घटना का क्या तीस जनवरी की इस घटना के साथ कोई ऐतिहासिक अनुबंध है? पिछले एक हजार साल के इतिहास के संदर्भ में ही हमें इन दोनों तिथियों का अर्थ और अनुबंध ढूंढना होगा। राष्ट्र की किस शक्ति के कारण केवल बत्तीस वर्षों में हम स्वराज्य पा सके और किस कमजोरी के कारण हम स्वराज्य के छह महीनों के अन्दर राष्ट्रपिता को खो बैठे?

किसी ने कहा है कि इस देश के लोग, विशेषतः हिन्दू, पृथ्वीराज के समय से न तो नया कुछ सीख सके, न पुराना कुछ भूल सके। क्या, यह सही नहीं है ? वही पुरानी गलतियां करते रहना और वही पुराने निष्फल इलाज आजमाते रहना, हिन्दुओं का मानो स्वभाव सा बन गया है। हिन्दुओं में कोई दोष न होते तो विदेशों से जो मुसलमान यहां आए उनका और हमारा संबंध केवल व्यापार तक ही मर्यादित रह पाता। सांस्कृतिक विनिमय के क्षेत्र में वह आ ही न पाता। हिन्दू अपने सामाजिक दोषों के प्रति उदासीन रहे। आपसी ऊंच-नीच भेदभाव को प्रश्रय देते रहे। उसी को धर्म-सर्वस्व मानने लगे। इसीलिए बाहर के मुसलमान यहां आकर अपनी हुकूमत चला सके। अपने सामाजिक दोषों को सुधारने का प्रयत्न तक हिन्दुओं ने नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि जिन्हें हिन्दू समाज में अपमानित जीवन जीना पड़ता था, वे या तो हिन्दू समाज छोड़कर बाहर चले गए या हिन्दुओं ने स्वयं उन्हें बाहर ढकेल दिये। आज देश में जो करोड़ों मुसलमान हैं, वे इसी कारण मुसलमान बने हैं। वे हमारे ही समाज के लोग हैं। उन्हें हिन्दुओं ने मुसलमान बनाया है। प्रलोभन के कारण भी कई लोग मुसलमान बने होंगे। पर, अगर हिन्दू समाज शुद्ध होता तो लोग प्रलोभन के शिकार भी क्यों बनते ? आज हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने को अलग कौमें मानने लगे हैं। क्या सचमुच वे दो अलग कौमें हैं ? तब तो कहना होगा कि हिन्दू और ईसाई भी, हिन्दू और सिख भी, हिन्दू और बौद्ध सभी अलग-अलग कौमें हैं। फिर, यह देश किसका है ? नहीं, हिन्दू और मुसलमान दो अलग कौमें नहीं हो सकतीं। न ही दोनों के हित संबंध परस्पर विरोधी हो सकते हैं। दोनों भाई भाई हैं। दोनों की संस्कृतियां भी परस्पर पोषक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। आज जो दोनों के बीच वैमनस्य दीख पड़ता है, वह अंग्रेजों का बनाया हुआ है। दोनों को अलग रखने की नीति के कारण ही देश का विभाजन हो सका है। इससे मुसलमानों का फायदा हुआ होगा, पर उनका सामाजिक और नैतिक सामर्थ्य तो क्षीण ही हुआ है। उनकी दृष्टि भी संकुचित हुई है। दोनों के बीच के इस अलगाव को क्या हम ऐसे ही चलने देंगे ? नहीं, तो इलाज क्या है ?

पुराने ऋषियों ने जो एक सूत्र हमारे सामने रखा था : दीर्घं पश्यत् मा ह्रस्वं—हमेशा दूर का देखो। केवल नजदीक का नहीं, जीवनविद्या के इस सूत्र को सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्र में भी हमें चलना होगा। हिन्दू मुसलमान, हिन्दू इसाई, हिन्दू सिख सभी लोगों को एकत्र लाकर उनके बीच भाई-चारा प्रस्थापित करना होगा। समन्वय का यही एकमात्र रास्ता भारत को बचा सकता है।"

उन्हें यह महसूस होने लगा कि अपना शेष जीवन इसी समन्वय के कार्य के लिए अर्पित कर देना चाहिए। समन्वय ही अपने शेष जीवन का मिशन होना चाहिए।

उन्हें एक प्रसंग का स्मरण हुआ—

1937 में इसी कलकत्ते शहर में वे विश्व-धर्म परिषद् के लिए आए थे। असल में परिषद के अध्यक्ष के रूप में गांधीजी को यहां आना था। पर वे रक्तचाप की बीमारी के कारण आ न सके। अपने प्रतिनिधि के तौर पर उन्होंने काकासाहब को भेजा। परिषद के आयोजकों ने गांधीजी से संदेश मांगा, तब गांधी जी ने 'काका ही मेरा संदेश है' इस तरह कहलवा भेजा। परिषद में रवीन्द्रनाथ उपस्थित थे। सुभाषबाबू भी थे। देश विदेश के कई विद्वान उपस्थित थे। काकासाहब का परिचय देते हुए रवीन्द्रनाथ ने उनका 'आधुनिक काल के एक ऋषि' के रूप में वर्णन किया था। रवीन्द्रनाथ काकासाहब के एक आराध्य थे। उनके मुंह से इस तरह के शब्द निकलना काकासाहब के लिए गौरव का विषय था। पर उन्होंने संकोच अनुभव किया। इस परिषद में काकासाहब ने लोगों के सामने धर्मसमन्वय का विचार रखा था। आज जब उनको इस प्रसंग का स्मरण हुआ, उन्होंने अपने आप से कहा, "यही एक काम है, जो मुझे शेष जीवन में उत्कटता के साथ करना है।"

नया मुख्यालय : 'सन्निधि'

शेष जीवन में उनके पास कई छोटे बड़े काम आए। उन्हें ईश्वर के भेजे हुए काम समझकर उन्होंने लगन के साथ पूरे किए।

1949 में गांधी स्मारक निधि की स्थापना हुई। उसने एक 'गांधी स्मारक संग्रहालय' और उसके अन्तर्गत एक 'गांधी स्मारक पुस्तकालय' बनाने की एक योजना बनाई। और इसके संचालन का भार काकासाहब को सौंप दिया।

काकासाहब ने इस काम के लिए अपने पांच साल दिए। और उसको व्यवस्थित रूप देकर उससे मुक्त हुए।

गांधीजी का व्यक्तित्व युगपुरुष का था। और काकासाहब कहते थे कि इस देश के लोगों ने युगपुरुषों को हमेशा देवता की कोटि में बिठा दिया है। इस संकट से गांधीजी को अगर बचाना हो, तो हमें चाहिए कि हम उनके म्यूजियम खड़े कर दें। वरना लोग कुछ समय के बाद उनके मंदिर बनायेंगे। हम उनकी प्रामाणिक जीवनियां लिख रखें। वरना लोग माहात्म्य लिखने लगेंगे।

गांधी स्मारक संग्रहालय में गांधीजी को दिए गए मानपत्र, उनके चित्र, उनकी

इस्तेमाल की गई वस्तुएं, उनके पत्र, उनका लिखा हुआ साहित्य—जीवनी लिखने के लिए जो भी कुछ सामग्री आवश्यक है, सब सुरक्षित रखी गई है। भारत सरकार ने सम्पूर्ण गांधी वांङ्मय ऐतिहासिक क्रम से छापने का निश्चय किया, तब इस विभाग की सलाहकार समिति के भी काकासाहब सदस्य रहें।

1953 में भारत सरकार ने देश के पिछड़े वर्गों की स्थिति का अध्ययन करके उनकी मदद करने के उपाय बताने के लिए एक आयोग नियुक्त किया। काका साहब इस आयोग के अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने इस निमित्त से कश्मीर से कन्या-कुमारी तक और द्वारका से सदिया तक के भारतवर्ष में और कई चक्कर लगाये। देश के कोने-कोने में वे घूम आये, और पिछड़े वर्गों के बारे में आवश्यक जानकारी इकट्ठा करके दो वर्षों के भीतर सरकार को उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की। समाज विज्ञान में गहरे पैठे हुए एक क्रियाशील चिंतक की यह रिपोर्ट थी। संभवतः इसीलिए वह विवादास्पद मानी गई। और सरकार ने वह ताक पर रख दी।

1948 में केन्द्रीय सरकार ने नागरी आशुलिपि (शार्टहैंड) और टंकण-यंत्र (टाइपराइटर) के लिए एक समिति बनाई थी। उसके भी काकासाहब अध्यक्ष थे।

न जाने कितनी समितियों या आयोगों के वे अध्यक्ष या सलाहकार रहे। सभी की गतिविधियों में वे रुचि लेते रहे।

इन सभी कारणों से—और खास तौर से, 1952 में राष्ट्रपति की ओर से वे राज्य-सभा के सदस्य मनोनीत किए गए, इसलिए (राज्यसभा के वे बारह साल लगातार सदस्य रहे) उन्हें दिल्ली में ही रहना आवश्यक हो गया। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का दफ्तर वर्धा में था। वर्धा से वह दिल्ली लाया गया। राजेन्द्र बाबू और मौ० आजाद ने उन्हें गांधीजी की समाधि के पास ही राजघाट पर जमीन दिलवा दी। काकासाहब ने इसे नाम रखा, सन्निधि। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा यहां 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' के नए नाम से अब काम करने लगी।

शेष जीवन के लगभग पच्चीस वर्षों तक काकासाहब का यही मुख्यालय रहा।

विनोबा

गांधीजी की हत्या के कुछ ही दिनों बाद गांधी-विचार में मानने वाले सैकड़ों छोटे बड़े कार्यकर्ता सेवाग्राम में इकट्ठा हुए थे। गांधीजी द्वारा स्थापित सभी रचनात्मक संस्थाएं अब तक अलग-अलग काम करती आई थीं। सर्वोदय समाज

की स्थापना की दृष्टि से इन संस्थाओं को एकत्र लाने का विचार इस सम्मेलन में हुआ। कुमारप्पाजी ने यह विचार सबके सामने रखा और सभी ने इसका अनुमोदन समर्थन किया।

फलस्वरूप 'सर्व सेवा संघ' की स्थापना हुई।

'सर्व सेवा संघ' नामकरण काकासाहब ने ही किया।

पर, काकासाहब की 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' संघ में सम्मिलित नहीं हुई। इसके दो कारण थे। एक यह कि संघ के अधिकांश नेताओं ने 'हिन्दुस्तानी' का आग्रह छोड़ दिया था। और दूसरा, संघ ने जो एक प्रस्ताव पास किया उसके अनुसार प्रत्यक्ष राजनीति में हिस्सा लेने वाला कोई भी संघ में सम्मिलित संस्थाओं का सदस्य रह नहीं सकता था। और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में तो जवाहरलालजी, मौ० आजाद, राजकुमारी अमृतकौर, आदि कई सदस्य ऐसे थे, जो प्रत्यक्ष राजनीति में थे। अतः 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' को 'सर्व सेवा संघ' से अलग रखने के लिए काकासाहब मजबूर हुए थे।

सर्व सेवा संघ को विनोबा जी के नेतृत्व का लाभ हुआ था। और विनोबाजी को स्वयं गांधीजी ने अपने रचनात्मक क्षेत्र के उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया था। इसलिए सर्व सेवा संघ की स्थापना होते ही काकासाहब ने विनोबा से कहा, 'मैं अपना शेष जीवन समन्वय के काम के लिए देना चाहता हूं, पर आपको मदद करना भी मेरा कर्तव्य हो जाता है। अतः आप जब बुलायेंगे, मैं आ जाऊंगा। और जो काम सौंपेंगे, करूंगा।'

सेवाग्राम सम्मेलन ने जब यह निश्चय किया कि हर वर्ष सर्वोदय सम्मेलन का आयोजन किया जाना चाहिए, तब विनोबा के कहने से दो सर्वोदय सम्मेलनों की—अनुगुल और शिवरामपल्ली की—अध्यक्षता काकासाहब ने की। विनोबा की इच्छा को मान देकर वे हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के भी अध्यक्ष बने। और उन्हीं की इच्छा के कारण वे बोध-गया के समन्वय आश्रम के कामों में भी रुचि लेने लगे।

विनोबाजी ने जब भूदान का काम हाथ में लिया, काकासाहब ने उसका पूरा समर्थन किया। इस आंदोलन के संदर्भ में विनोबाजी का उन्होंने 'भावना क्रांति के अग्रदूत' के रूप में वर्णन किया था। और कहा था, 'विनोबा ऐसे पुरुषार्थी सत्पुरुषों में से एक हैं, जिन्होंने अपने जीवन के हर एक दिन का—हर एक क्षण का पूरा-पूरा उपयोग किया है। वे अपनी सर्वांगीण उन्नति जोरों से करते आये हैं। अपने रास्ते प्रगति करते जो कुछ भी छोड़ देना पड़े, वे आसानी से छोड़ देते हैं। जो ग्रहण करना पड़े, पूरे उत्साह के साथ ग्रहण कर लेते हैं। हिन्दुस्तान का अहोभाग्य इसी में है कि उसे ऐसे ही नेता आज तक मिले हैं,

जो भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्शों की ओर ही राष्ट्र को ले जाने की कोशिश करते आये हैं।'

उम्र के हिसाब से काकासाहब विनोबा से दस साल बड़े थे। इसलिए, जब कोई पूछते, आप में सीनियर कौन हैं और जूनियर कौन हैं, तब काकासाहब जवाब देते, उम्र के और प्रत्यक्ष काम के हिसाब से मैं सीनियर हूं। और थोड़ी देर रुककर कहते, 'गांधीजी के देहांत के बाद गांधी-कार्य के प्रचार और विस्तार की दृष्टि से सोचें तो कह सकता हूं कि विनोबा मुझसे ही नहीं, बल्कि गांधी-कार्य में जितने भी लोग लगे हैं उन सब में सीनियर मोस्ट हैं।'

विनोबा के प्रति काकासाहब के मन में आदर भी था, और वात्सल्य भी था। उन्होंने विनोबा के भूदान ग्रामदान प्रवृत्ति का हृदयपूर्वक समर्थन किया। पर वह अपने हाथ में नहीं लिया। जब कोई पूछता, 'आप इस प्रवृत्ति का उत्साह के साथ समर्थन तो करते हैं। पर यह काम अपने हाथ में क्यों नहीं लेते ?' तब वे जवाब देते, "बापूजी इस प्रकार का कोई काम हाथ में लेते तो मुझे उसमें कभी न खींचते। उनकी जब नोआखाली में यात्रा चल रही थी, मैं उनसे वहां जाकर मिला था। उनके साथ जुड़ भी जाना चाहता था। पर बापूजी ने ही मुझे मना करके कहा था, तुम्हारे पास अपने काम हैं, उन्हें छोड़कर यहां आना उचित नहीं है। भूदान के बारे में भी मेरी यही भूमिका है। मैं इस काम का समर्थन करूंगा। उसे मदद भी करूंगा। पर अपना काम छोड़कर उसको नहीं उठाऊंगा। वह गांधीद्रोह होगा। मैं कोयल थोड़े ही हूं कि दूसरे के घोंसले में अंडे रख दूं।"

विनोबा के नेतृत्व में जो सर्वोदय आंदोलन चला, उसे काकासाहब अपने अनेकविध, बहुविध, सर्वविध चिंतन के द्वारा हमेशा परिपुष्ट ही करते रहे। क्योंकि सर्वोदय उनकी दृष्टि में भारत के उद्धार के अनेक मार्गों में से एक मार्ग नहीं था, बल्कि 'एकमात्र मार्ग' था। इसलिए जब कभी विनोबा के चिंतन में उन्हें एकांगिता दिखाई देती, तब वे बेचैन हो जाते और सर्वोदय के एक जागरूक संतरी की तरह वे अपने उग्र चिंतन के द्वारा उन्हें जाग्रत करने का भी काम करते।

विनोबा ने जब सत्याग्रह की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम प्रक्रिया की बात छेड़ी तब काकासाहब ने उन्हें चेतावनी देकर कहा कि इससे तो देश में सत्याग्रह का त्राता ही कोई नहीं रहेगा और गांधीजी का यह प्रभावी अस्त्र गुण्डों के हाथ में चला जायेगा।

विनोबा के कहने से सर्व सेवा संघ ने जब सर्वसंमति से निर्णय लेने का निश्चय किया, तब भी काकासाहब ने उन्हें सचेत करके कहा कि इससे किसी न किसी

दिन सर्व सेवा संघ संकट में आ पड़ेगा और सर्वसम्मति के निर्णय का सबको पश्चात्ताप होगा।

काकासाहब ने अपनी ओर से विनोबा और उनके सर्वोदय आंदोलन को सब तरह से मदद भी की है। और जब कभी जरूरत पड़ी है तब अपनी स्पष्ट राय देकर उनको सचेत करने का भी काम किया है।

जवाहरलालजी

जवाहरलालजी के बारे में भी उनका यही रुख रहा। राजनीति के क्षत्र में जवाहरलालजी गांधीजी के उत्तराधिकारी थे। उनकी मदद करना काकासाहब ने अपना कर्त्तव्य माना। कर्त्तव्यपालन की इस प्रक्रिया में कभी ऐसे भी अवसर आ जाते, जब उन्हें अपने निकटतम साथियों और मित्रों का गुस्सा मोल लेना पड़ता था।

1962 के चुनाव में बम्बई के एक मतदार संघ में कृष्ण मेनन के विरुद्ध आचार्य कृपलानी खड़े हुए। मेनन जवाहरलालजी के उम्मीदवार थे। और कृपलानीजी विरोधी पक्ष के थे। काकासाहब के लगभग सभी साथी और मित्र कृपलानीजी के साथ थे। उनकी मदद करते थे। तब, काकासाहब ने कृष्ण मेनन का समर्थन किया। कारण पूछा गया तब उन्होंने जवाब दिया, "जवाहरलालजी अगर मेनन को चाहते हैं, तो हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम चुनाव में मेनन की ही मदद करें। हमें जवाहरलालजी को कमजोर तो करना नहीं है।"

1961 के अंत में जवाहरलालजी ने शस्त्रबल का प्रचंड प्रदर्शन करके गोवा को मुक्त किया। तब जवाहरलालजी की विदेशों में बहुत निंदा हुई। विदेशियों की निंदा की काकासाहब को कोई चिंता नहीं थी। पर जब देश में ही कई लोग 'भारत ने अपनी नीति को तिलांजलि दी', 'भारत का नैतिक पतन हुआ,' इस तरह की आलोचना करने लगे, तब काकासाहब ने जवाहरलालजी का समर्थन किया। यही नहीं, गांधीजी को दुहाई देकर—जो वे कभी नहीं देते थे—कहा कि "गांधीजी भी जवाहरलालजी का समर्थन ही करते। गांधीजी की अहिंसा पश्चिम के शांततावादियों (पसिफिस्टों) की अहिंसा से अलग कोटि की है। पश्चिम के शांततावादियों की अहिंसा तर्कनिष्ठ और सूत्रनिष्ठ ज्यादा है। गांधी जी की जीवननिष्ठ थी···अहिंसक गांधीजी ने ब्रिटिश साम्राज्य को युद्ध चलाने में मदद की थी···पिछले महायुद्ध में जापान के आक्रमण की सम्भावना पैदा हुई तब उसके प्रतिकार की बात भी गांधीजी ने सोची थी। बंटवारे के बाद जब कश्मीर पर हमला हुआ और भारत सरकार ने हवाई जहाज द्वारा फौज भेज

कर कश्मीर की रक्षा की, तब गांधीजी ने फौज को अपने आशीर्वाद दिये थे। ···मैं गांधीजी को जिस तरह समझता हूं, उसके अनुसार मेरे मन में तनिक भी शंका नहीं है कि जवाहरलालजी की करीब चौदह साल तक की खामोशी और सहनशक्ति की गांधीजी सराहना भी करते और शस्त्र बल का केवल प्रदर्शन करके रक्तपात के बिना गोवा को मुक्त कराने के कृत्य को अपने हार्दिक आशीर्वाद भी देते।···चौदह बरस तक पुर्तगाल ने हमारी बात नहीं सुनी। समझौते के सारे प्रयत्न ठुकरा दिये। हमारा अपमान किया···और हमारी नीति अहिंसा की है इसी कारण पश्चिम के गोरे राष्ट्र हमारी फजीहत करने के लिए पुर्तगाल को मुक प्रश्रय देते रहे···तभी हमने शस्त्र का आश्रय लिया—शस्त्र का केवल प्रदर्शन ही किया—और बिना रक्तपात के गोवा को मुक्त किया···गांधी जी इसकी जरूर सराहना करते।"

गोवा से काकासाहब का बचपन से संबंध था। गोवा-मुक्ति के लिए प्रयत्न करने वाले गोवा के नवयुवकों से भी उनका करीब पच्चीस साल से घनिष्ट सम्बन्ध था। गोवा को परदास्य से मुक्त हुआ देखकर उन्हें परम आनंद हुआ था।

जवाहरलालजी गांधीजी के उत्तराधिकारी थे, पर गांधीवादी नहीं थे। उनकी कई नीतियां काकासाहब को पसंद नहीं थी। जवाहरलालजी के बारे में उनकी सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि वे कई महत्व के प्रश्नों की उपेक्षा करते हैं। काकासाहब कहते थे कि जिस प्रकार किसी पुराने और बड़े घर में कूड़ा-करकट भी बहुत रहता है—जितना पुराना और जितना बड़ा घर उतना ज्यादा कूड़ा-करकट—उसी प्रकार बहुत बड़ी प्राचीन संस्कृति के दायाधिकारी बड़े देश के सामाजिक जीवन में भी बहुत ज्यादा कचरा, कूड़ा-करकट रहता है। कृषि की तरह संस्कृति में भी समय-समय पर निंदाई होनी चाहिए। पौधे की बढ़ती को रोकने वाली घास खुरपी से खोदकर दूर करने की प्रक्रिया संस्कृति में भी चलती रहनी चाहिए। वरना संस्कृति विकृति बन जाती है। भारतवर्ष दुनिया का एक बड़ा देश है। यहां जितने मानववंश, जितने धर्म, जितनी भाषाएं, संस्कृति के जितने स्तर दिखाई देते हैं, उतने दुनिया के किसी भी देश में दिखाई नहीं देते। इतने बड़े और इतने प्राचीन देश में संस्कृति की निंदायी जितने अनुपात में होनी चाहिए थी, नहीं हो पाई। इसलिए हमारे सामाजिक जीवन में कई विकृतियां पैठ गई हैं। कई तो दृढ़मूल हो गई हैं। इन विकृतियों ने कई तरह की समस्याएं पैदा की हैं। इन समस्याओं की उपेक्षा करना, उनकी ओर दुर्लक्ष करना—या लोगों का आर्थिक स्तर ज्यों-ज्यों ऊंचा होता जायेगा, यह समस्याएं अपने आप हल हो जायेंगी, ऐसा मानना, बड़ा खतरनाक है।

प्रयत्नपूर्वक, बुद्धिपूर्वक हल किए बिना यह समस्याएं हल नहीं हो सकतीं। गांधीजी ने किसी भी प्रश्न की उपेक्षा नहीं की। आप उनके सिद्धान्तों से सहमत हों या न हों, इतना तो आपको कबूल करना ही पड़ेगा कि जो भी प्रश्न उनके सामने उपस्थित हुए, या जो भी प्रश्न उनकी नजर में आये, उन्हें हल करके आगे जाने की ही उन्होंने भरसक कोशिश की। जवाहरलालजी प्रश्नों को टालते रहे। किसी अंग्रेज की तरह उनकी ओर तटस्थता से देखते रहे और उनकी उपेक्षा करते रहे। नतीजा यही हुआ कि हमारे सामाजिक सांस्कृतिक नेतृत्व में एक तरह की रिक्तता पैदा हुई। और दकियानूसी लोगों को अवसर मिला।

कभी-कभी कहते थे, जो कुछ भी नहीं समझते उन्हें अंग्रेजी में हम 'इग्नोरेंट' कहते हैं। पर जो सब कुछ समझते हैं, पर प्रश्नों को 'इग्नोर' करते हैं उन्हें क्या कहना चाहिए ? 'इग्नोरेंट' ही न ?

स्वराज्य में समाज सेवा के करीब करीब सभी क्षेत्रों का सरकारीकरण हुआ, इससे भी काकासाहब बहुत चिंतित थे। उन्होंने अपनी यह चिंता कई बार जवाहरलालजी के सामने व्यक्त की थी। हमने वेलफेयर स्टेट का—कल्याण-कारी राज का—आदर्श अपना लिया, इसीलिए संभवत: यह सरकारीकरण अनिवार्य हो गया होगा। फिर भी काकासाहब समाज सेवा के कुछ क्षेत्रों को शासन के नियंत्रण से आग्रहपूर्वक मुक्त रखने का विचार लोगों के सामने रखने लगे थे। कम से कम शिक्षा का महकमा तो न्यायालयों की तरह सरकारी नियंत्रण से मुक्त रहे, यह उनकी इच्छा थी। गुजरात विद्यापीठ के समय से वे सरकार-मुक्त शिक्षा का प्रतिपादन करते आये थे। अब उन्होंने जोर शोर के साथ एक नया सूत्र चलाया था। कहते थे, "वही काम असर-कारी हो सकते हैं, जो अ-सरकारी हों।" विनोबा को काकासाहब का यह 'अ-सरकारी असर-कारी' सूत्र बहुत पसंद आया था। वे इसे काकासाहब का दिया हुआ मंत्र कहते थे, जिसमें स्वराज्य और सुराज्य की कुंजी है।

जवाहरलालजी भाषा के अनुसार प्रांत रचना के विचार के विरुद्ध थे। उन्हें डर था कि इससे भाषावाद को बढ़ावा मिलेगा। काकासाहब ने उनसे कहा कि विखंडन टालना हो तो देश के छोटे-छोटे चालीस-पचास या सत्तर-अस्सी राज्य बनाये जायें। भारतीय जनता का स्वभाव और भारत का इतिहास ध्यान में रखते हुए छोटे राज्य ही देश के लिए अनुकूल हैं। छोटे राज्य अंधे नहीं होते। छोटे राज्यों में लोग और राज्यकर्ता एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचान सकते हैं। छोटे राज्यों में छोटे-बड़े सभी लोगों के सुख-दुख की ओर ध्यान देने में आसानी रहती है। मानवता के लिए ऐसे राज्यों में अवकाश भी अधिक रहता

है और लोगों की रचनात्मक बुद्धि और शक्ति के लिए गुंजाइश भी अधिक रहती है। छोटे राज्य बनेंगे तो केन्द्र भी मजबूत होगा।

सभी राज्यों का प्रशासन स्थानिक भाषा में ही चले। पर यह जरूरी नहीं है कि एक भाषा का एक ही राज्य हो। महाराष्ट्र के देश, विदर्भ और कोंकण तीन स्वाभाविक विभाग हैं। गुजरात के गुजरात, कच्छ और सौराष्ट्र तीन स्वाभाविक विभाग हैं। यह सब अलग-अलग राज्य बनाये जायें तो कोई हानि नहीं है।

सुरक्षा की दृष्टि से काकासाहब ने और दो प्रांतों की सिफारिश की थी। एक उत्तर की ओर हिमालयन प्रांत की और दूसरा पश्चिम के किनारे पर सागरी प्रांत की।

जवाहरलालजी कहने लगे, हमें औद्योगिक क्रांति करनी है। बड़े-बड़े कल कारखाने खड़े करने हैं। छोटे राज्यों में इनके लिए गुंजाइश नहीं होती।

काकासाहब ने कहा, इसके लिए चार-छह औद्योगिक क्षेत्र बनाइये।

जब राज्य पुनर्रचना मंडल की स्थापना हुई, तब काकासाहब ने उसके सामने भी अपना यह विचार रखा। मंडल के एक सदस्य पंडित हृदयनाथ कुंझरू ने उनसे कहा, "इस तरह की मांग ही किसी ने नहीं की है, हम इस पर कैसे विचार करें ?"

काकासाहब ने पूछा, "आपका यह मंडल लोगों की मांगों का विचार करने के लिए है, या देश के हित की दृष्टि से किस तरह की राज्य रचना की जाये इस प्रश्न का विचार करने के लिए है ?"

काकासाहब निराश नहीं हुए। वे अपने इन विचारों का प्रतिपादन लगातार करते रहे। बरसों बाद जब जयप्रकाशजी ने छोटे राज्यों का समर्थन शुरू किया, काकासाहब के मुंह के उद्‌गार निकले, "काश ! वे पहले ही इस विचार का समर्थन करते ! अब तो वे भी अकेले पड़ गये हैं।"

सुरक्षा के मामले में काकासाहब का दिमाग किसी फौजी सेनापति की तरह काम करता था।

चीन की यात्रा से जवाहरलालजी लौटे थे। चीन की प्रगति से बड़े प्रभावित हुए थे। काकासाहब से जब उन्होंने चीन की प्रगति की बातें कीं, काकसाहब से रहा नहीं गया। बोले, "मुझे तो लगता है, इस देश से हमें खतरा है। इसके नये राज्यकर्ता मार्क्सवाद से अधिक सैन्यवाद में विश्वास रखते हैं। उनकी अर्थ-नीति, राजनीति, मार्क्सवाद से आधिक सैन्यवादी हैं। उनका सैन्यवाद सभी क्षेत्रों में सफल रहा है, इसलिए खतरा ज्यादा है। केवल हमारे लिए ही नहीं, रूस के लिए भी।"

काकसाहब के कथन की सत्यता की प्रतीति आने के लिए जवाहरलालजी को 1962 तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

इसी तरह जब जवाहरलालजी ने ऐलान किया कि भारत परमाणु-शक्ति का उपयोग तो करेगा, पर परमाणु बम नहीं बनायेगा, तब काकासाहब ने उनसे पूछा, "क्यों नहीं बनायेगा ? अपने देश ने सुरक्षा के लिए शस्त्र युद्ध का परंपरागत मार्ग ही अपनाया है। आप कैसे कह सकते हैं कि हम परमाणु बम नहीं बनायेंगे ? शस्त्रास्त्रों से ही लड़ना है तो हमारे पास उत्तमोत्तम और अद्यतन से अद्यतन शस्त्रास्त्र होने ही चाहिए। हां, इतना मैं जरूर मानता हूं कि हम परमाणु बम बनायेंगे तो भी पछतायेंगे और नहीं बनायेंगे तो भी पछतायेंगे।"

जवाहरलालजी उनकी ओर देखते ही रहे।

किसी ने काकासाहब से पूछा, "क्या यह विचार गांधीवाद में बैठता है ?"

"बिल्कुल नहीं," काकासाहब ने जवाब दिया, "देश की सुरक्षा के मामले में हरएक छोटे-बड़े नागरिक को सचेत करके उसे देश के लिए मर मिटने की तालीम देने में गांधीजी मानते थे। क्या हमने यह मार्ग अपनाया है ? हमने तो पुराने मार्ग से ही चलना पसंद किया है। फिर, गफलत में रहना क्या खतरनाक नहीं है ?"

साहित्य सेवा

पर महत्व के होते हुए भी काकासाहब की दृष्टि से यह सब अवांतर काम थे। उनका मुख्य काम तो पत्रकारिता के द्वारा, साहित्य के द्वारा, भाषणों संभाषणों के द्वारा, पत्रव्यवहार के द्वारा, प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा संस्कृति समन्वय, धर्म समन्वय भाषा समन्वय, अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करना, समन्वय के इस कार्य के लिए अपना जीवन समर्पित करें इसकी विद्यार्थियों को प्रेरणा देना यही था। यही उनके शेष जीवन का मिशन था।

काकासाहब एक जन्मजात शिक्षक थे। उनके जीवन प्रवाह का आरंभ ही एक शिक्षक के रूप में हुआ। शिक्षक कहलाने में उन्होंने अपना गौरव ही माना था। उनकी आंतरिक इच्छा भी यही रही कि लोग उन्हें न भूलें तब तक एक साहित्यकार के रूप में उन्हें चाहे पहचानें या न पहचानें, शिक्षक और शिक्षा शास्त्री के रूप में अवश्य पहचानें। गुजरात विद्यापीठ छोड़ने के बाद उन्होंने विधिवत् कहीं नहीं पढ़ाया। पर उनके आसपास का वायुमंडल हमेशा किसी विद्यापीठ जैसा ही रहा। ज्ञान का आगम और निर्गम उनके आसपास हमेशा चलता रहा। किशोरलालभाई ने लिखा है कि "उनकी प्रतिभा का आनन्द अगर पाना हो तो उनके पलंग के पास जाकर बैठना चाहिए। उनके भाषणों या

लेखों में जो नहीं मिलता, वह उनके वार्तालाप में मिलता है।" काकासाहब बड़े ही प्रतिभाशाली संवादपटु थे।

प्रवास में भी वे यही वातावरण लेकर घूमते थे। मालूम होता था, मानो गांधी युग का एक जिन्दा विद्यापीठ जंगम होकर दुनियाभर में घूम रहा है।

पत्रकारिता को उन्होंने व्यापक राष्ट्रीय शिक्षा का एक अंग माना था। जीवन के मिशन के रूप में उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र को अपनाया, उन्हीं दिनों वे पत्रकारिता के क्षेत्र में उतनी ही उत्कटता के साथ कूद पड़े थे। यहां पर भी शिक्षक की उनकी आत्मा हमेशा जाग्रत रही। शिक्षक के मनोभावों को लेकर ही वे इस क्षेत्र में विचरते रहे। उन्होंने पत्रकारिता की दीक्षा ली उस समय देश में पत्रकारों के दो आदर्श चलते थे। मोतीलाल घोष, रामानंद चट्टोपाध्याय, नटराजन जैसे पत्रकार एक कोटि के थे। तो तिलक, आगरकर, अरविंदबाबू, गांधीजी, दूसरी कोटि के पत्रकार थे। दोनों में एक समान तत्व था। दोनों सर्वांगी विचार प्रचार के हिमायती थे। पर दोनों में जो फरक था, वह बड़ा था। पहली कोटि के पत्रकार साहित्य के द्वारा जो भी संस्कृति सेवा हो सके, उतनी करके संतोष मानने वाले थे, जबकि दूसरी कोटि के पत्रकार प्रधानता कार्यपरायण होने से देश में सेवकों की एक अडिग सेना खड़ी करने में विशेष रुचि रखते थे। और उसी में पत्रकारिता की सफलता मानते थे।

काकासाहब दूसरी कोटि के पत्रकार थे। उन्होंने गुजराती 'नवजीवन' का संपादन किया। उसके बाद हिन्दी में 'सर्वोदय' और 'सबकी बोली' का किया। सन 1950 में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मुखपत्र के रूप में 'मंगल प्रभात' शुरू हुआ। काकासाहब ने जो पत्रिकाएं संपादित की, उनमें 'मंगल प्रभात' सबसे अलग प्रकार की पत्रिका है। 1950 से 1956 तक वह मासिक पत्रिका के रूप में चलती रही। 1957 से 1959 तक वह साप्ताहिक पत्रिका के रूप में चलने लगी। 1959 के बाद वह पाक्षिक रूप में चलने लगी। 1966 तक वह इसी रूप में चलती रही। पत्रिका में लगभग सभी लेख काकासाहब के ही रहते थे। उसमें न समाचार रहते थे, न विज्ञापन। मनोरंजन की सामग्री का तो उसमें प्रायः अभाव ही रहता था। पर उसमें जो रहता था, वह काकासाहब की परिपक्व प्रतिभा और चिंतन का निचोड़ था—सब स्थाई महत्व का था। 'मंगल प्रभात' की पुरानी फाइलों पर एक सरसरी निगाह डालने पर यह प्रतीत होता है, कि राष्ट्रीय जीवन का शायद ही ऐसा कोई प्रश्न होगा, जो उनकी कलम से अछूता रहा हो। जीवन के सहस्रों प्रश्नों में शायद ही ऐसा कोई प्रश्न होगा, जो उनके मौलिक चिंतन से अस्पृष्ट रहा हो। एक ही व्यक्ति

द्वारा सर्जित इतनी विपुल और इतनी विविध सामग्री शायद ही और कहीं देखने को मिलेगी। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में कहें तो "उनके पास ज्ञान का अखण्डित स्त्रोत था। कामधेनु की तरह उनकी वाग्धारा अप्रतिहत रूप में प्रवाहित होती रही।"

काकासाहब की साहित्य संपदा इन्हीं लेखों में से तैयार की गई है। समीक्षकों ने इसके दो विभाग किये हैं। एक को उन्होंने 'प्रचारक' काकासाहब का साहित्य कहा है, तो दूसरे को 'साहित्यकार' काकासाहब का साहित्य माना है। प्रचारक काकासाहब असल में शिक्षक काकासाहब हैं, मिशनरी काकासाहब है। इसलिये इस साहित्य संपदा में प्रासंगिक तत्वों के अनुपात में चिरस्थाई अंश भी काफी मात्रा में दिखाई देते हैं। 'कालेलकर रचनावलि' के संपादक इस साहित्य को प्रासंगिक कहकर अलग निकाल नहीं सके यह इसकी विशेषता है।

प्रचारक काकासाहब की जो पहली पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई, उसका नाम था 'स्वदेशी-धर्म'। स्वदेशी पर लिखे गये लेखों का यह संग्रह था। इसके बाद अपने साथी नरहरिभाई परीख के साथ, उन्होंने और एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम है 'पूर्वरंग'। भारत का सांस्कृतिक इतिहास किस दृष्टिकोण को लेकर लिखना चाहिए, इसकी एक रूपरेखा उन्होंने इसमें दी है। नवजीवन के लेखक बनने के बाद उन्होंने 1935 तक गुजराती में जो कुछ लिखा—नव जीवन में और गुजराती की अन्य पत्रिकाओं में—वह सब पहले 'कालेलकर ना लेखो—भाग 1 और भाग 2' के रूप में प्रकाशित किया गया था। बादं में उनका विषयवार संपादन शुरू हुआ। 1936 में सबसे पहले 'जीवन विकास' नामक एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ—खासा आठ सौ पृष्ठों का। शिक्षा शास्त्री काका साहब के चिंतन का यह नवनीत है। दूसरे ही वर्ष 1937 में उतना ही दलदार दूसरा एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ : 'जीवन भारती'। इसमें साहित्य का आदर्श, साहित्य और जीवन का संबंध आदि साहित्य विषयक समस्याओं की मीमांसा की गई थी। जगत-मान्य कई पुस्तकों का मूल्यमापन भी इसमें था। साहित्यिक काकासाहब के चिंतन का सार इसमें आ गया था। दो साल के बाद 1939 में सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक आदर्शों की चर्चा करने वाला और एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ—पहले दो ग्रंथों के जितना ही भारी : 'जीवन संस्कृति'। इसमें समाजशास्त्री काकासाहब के चिंतन का निष्कर्ष था। सामाजिक जीवन की चर्चा करने वाली उनकी एक पुस्तक इससे पहले मराठी में प्रकाशित हुई थी—'हिंडलग्याचा प्रसाद'। बेलगांव के नजदीक की हिंडलगा जेल की यह एक दैनंदिनी है। इसके गुजराती में और हिन्दी में अनुवाद प्रसिद्ध हो चुके थे।

नाम था : 'लोक जीवन'। सामाजिक जीवन में धार्मिक त्यौहार असाधारण महत्व रखते हैं। त्यौहारों के द्वारा ही समाज अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति करता आया है। पुराने त्यौहारों में आज रखने के लायक त्यौहार कौन से हैं, वह आज किस रूप में मनायें जायें—कौन से नये त्यौहार प्रचलित किए जाएं, यह सूचनाएं और त्यौहारों के पीछे जो अर्थ है, उसका मौलिक और रसिक विवेचन करने वाली उनकी 'जीवता तेहवारो' पुस्तक 1934 में प्रकाशित हुई थी। इसके हिन्दी, और मराठी, मलयालम आदि कई भाषाओं में अनुवाद भी हुए हैं। मूल गुजराती में तो इसकी अब तक छह आवृत्तियां निकल चुकी हैं।

शिक्षक, मिशनरी या प्रचारक काकासाहब का सबसे प्रिय विषय रहा : गांधीजी। गांधीजी को वे अपने जीवन की सबसे बड़ी खोज मानते थे। उन्हीं के शब्दों में कहें तो उन्होंने अपनी "सारी मौलिकता गांधीजी को ढूंढने में खर्च कर डाली" थी। हिमालय के एक से एक भव्य और दिव्य दृश्यों को देखकर वे जिस प्रकार प्रभावित हुए थे—और उनके बारे में बोलते या लिखते कभी थकते नहीं थे, उसी प्रकार गांधीजी के जीवन के एक से एक अद्वितीय पहलुओं को देखकर वे प्रभावित हुए थे और उनके वर्णन कीर्तन करने में कभी थकते नहीं थे। काकासाहब की दृष्टि बड़ी विवेकी थी। बड़े-से-बड़े बुद्धिवादियों से भी विभेदक और चिकित्सक थी। अंध-श्रद्धा के लिए उसमें कोई गुंजाइश नहीं थी। फिर भी वे अपने को गांधीजी के 'अंधभक्त' कहलाने में गौरव महसूस करते थे। गांधीजी जब तक जीवित थे, उनके व्यक्तित्व के बारे में बोलते समय उन्हें हिचकिचाहट महसूस होती थी। गांधीजी के देहान्त के बाद जब देश धीरे-धीरे गांधी मार्ग से दूर हटता रहा, वे बड़ी ही प्रगाढ़ता, उत्कटता और ओजस्विता से गांधीजी के बारे में लिखने बोलने लगे। गांधीजी के जीवन का, उनके जीवन सिद्धान्तों का, उनके जीवन दर्शन का और उनके कार्यक्रमों का विवेचन करना, उन्होंने अपने जीवन का एक प्रमुख कार्य माना। गांधीजी के बलिदान के बाद की काकासाहब की साहित्य संपदा में सबसे अधिकता इसी साहित्य की है। सन् 1942 की जेल में उन्होंने गांधीजी के व्यक्तित्व के कई अनोखे रेखाचित्र लिखवाये थे, जो गांधीजी के देहान्त के बाद 'बापू की झांकियां' नाम से मूल हिन्दी में प्रकाशित हुए। हिन्दी में ही इस पुस्तक की करीब एक लाख प्रतियां बिक चुकी हैं। इसके गुजराती, मराठी, अंग्रेजी में भी अनुवाद हुए हैं। और उतने ही लोकप्रिय हुए हैं। इसी परंपरा की उनकी दूसरी पुस्तक है : 'मीठाने प्रतापे' (हिन्दी में : नमक के प्रभाव से)। इसमें गांधीजी के साथ यरवदा जेल में बिताये दिनों का वर्णन है। गांधीजी की एक

बड़ी ही लुभावनी झांकी इस पुस्तक में उभर आती है। गांधीजी ने किन परिस्थितियों में अपना काम किया, लोगों ने उनमें क्या देखा, किस प्रकार वे लोगों के प्राण फूंक सके, इस लोकोत्तर विभूति की क्या विशेषताएं थीं, इन बातों का विवेचन उन्होंने हिन्दी में लिखी हुई अपनी 'गांधी चरित्र कीर्तन' पुस्तक में किया है। उनकी संस्मरणात्मक पुस्तकों में एक और पुस्तक है : 'आश्रम संहिता'। साबरमती आश्रम के प्रारंभ के दिनों के कई किस्से इसमें दिये गये हैं। गांधीजी ने किस हेतु से आश्रम की स्थापना की थी, वह कहां तक सफल हुआ, उसकी असफलताओं के कारण क्या रहे आदि प्रश्नों की चर्चा इसमें है। आश्रम की बुनियाद में गांधीजी के बताये हुए ग्यारह व्रत थे, जिनकी व्याख्या स्वयं गांधीजी ने अपनी छोटी-सी पुस्तक 'मंगल प्रभात' में की है। काकासाहब ने भी इन व्रतों का अपने ढंग से विवेचन किया है, 'जीवन संस्कृति की बुनियाद' नामक अपनी पुस्तक में। 'गांधीजी के जीवन सिद्धान्त' नामक पुस्तक में इन्हीं व्रतों की उन्होंने विस्तार के साथ चर्चा और व्याख्या की है (पर यह पुस्तक अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है)। ऐसी ही अप्रकाशित उनकी महत्व की दूसरी पुस्तक है, 'अहिंसा की जीवन दृष्टि', जिसमें अहिंसा तत्व की सांगोपांग चर्चा है। 'गांधीजी का जीवन दर्शन' नामक पुस्तक में उन्होंने गांधी दर्शन के प्रमुख पहलुओं का और आज के युग में गांधीजी के योगदान का दिग्दर्शन किया है, तो 'गांधीजी का रचनात्मक क्रांतिशास्त्र' (दो खण्ड) में गांधीजी किस प्रकार सामाजिक, धार्मिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक क्षेत्र में संपूर्ण क्रांति लाना चाहते थे, यह विस्तार के साथ बताया है। गांधी युग में हिन्दू हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर काफी वाद-विवाद हुआ। इस संदर्भ में देश की भाषिक समस्या क्या है, उसमें हिन्दी का स्थान कौन-सा है, प्रादेशिक भाषाओं का महत्व क्या है, देश को अंग्रेजी से क्या खतरा है आदि प्रश्नों की चर्चा महत्व की है। यह चर्चा हमें 'राष्ट्रभारती हिन्दी का मिशन' पुस्तक में पढ़ने को मिलती है। गांधीजी की दुनिया को सबसे बड़ी देन थी : सत्याग्रह। सत्याग्रह की व्याख्या क्या है, उसका स्वरूप, उसका व्याकरण, लोकतंत्र में उसका स्थान आदि प्रश्नों की चर्चा उन्होंने 'सत्याग्रह और युद्धनीति' पुस्तक में की है। तो देश की सुरक्षा का गांधी प्रणीत मार्ग कौन-सा है, स्वचक्र या परचक्र के समय अहिंसावादियों का कर्त्तव्य क्या हो सकता है, इन प्रश्नों की चर्चा 'शान्तिसेना और विश्वशान्ति' पुस्तक में की है। समन्वय काकासाहब के जीवन का ध्येय था। वे मानते थे कि बहुभाषी, बहुवंशी, बहुधर्मी भारत में समन्वय ही तारक मंत्र है। उनके शेष जीवन का यही प्रमुख मिशन था। समन्वय की साधना में क्या अड़चनें आ सकती हैं, और उनका निवारण किस तरह से करना आवश्यक है, इसकी चर्चा उन्होंने 'समन्वय संस्कृति

की ओर' पुस्तक में की है। समन्वय के ही संदर्भ में हिन्दू धर्म का स्वरूप, हिन्दू जीवन दृष्टि की कमजोरियां, हिन्दू समाज में आवश्यक सुधारों की गतिविधियां आदि महत्वपूर्ण समस्याओं का चिंतायुक्त चिंतन उन्होंने 'युगानुकूल हिन्दू जीवन दृष्टि' ग्रंथ में किया है। इसी परंपरा की उनकी दूसरी पुस्तक है, 'युगानुकूल जैन जीवन दृष्टि', जिसमें जैन धर्म की खूबियों और कमजोरियों का विवेचन है।

इस साहित्य को हम गांधी विचार का केवल भाष्य नहीं कह सकते। यह भी नहीं कह सकते कि यह भाष्य नहीं है। इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि गांधी विचार को काकासाहब का यह मौलिक योगदान है।

सर्जक कलाकार के रूप में

काकासाहब की साहित्य संपदा का मध्यबिंदु कोई रहा हो तो वह जीवन ही है। वे हमेशा मानते और कहते आये कि दुनिया में जीवन से बढ़कर कुछ भी नहीं। धर्म, नीति, समाजशास्त्र, साहित्य, संगीत कला सब उनकी दृष्टि में जीवन की प्रतिष्ठा के ही साधन हैं। साधन चाहे जितने सुंदर हों, संपूर्ण हों, वे साधन ही हैं, साध्य नहीं है। साध्य तो जीवन ही है। जीवन विकास, जीवन-शुद्धि, जीवन-समृद्धि उनकी साहित्य प्रवृत्ति के प्रेरक और नियामक बल रहे।

साहित्यकार काकासाहब की साहित्य संपदा उनकी जीवन की उपासना का ही उपफल (बाई प्रोडक्ट) है। वे शिक्षक थे। इसलिए लेखक की अपेक्षा वे अधिक बोलक थे। लिखना भी उनके लिए बोलने का ही तरीका था। वे कभी अपने हाथ से नहीं लिखते थे। हाथ में कोई दोष नहीं था। स्वभाव की यह एक विशेषता थी। लिखने वाला कोई हो तो और तभी लिखवाते। लिखने वाला रसिक हो, तो जो लिखवाया जाता वह उसी कोटी का उतरता था। स्वामी आनंद नवजीवन के लिए उनसे लेख मांगते तब काकासाहब लिखवाकर भेज देते थे। भेजा हुआ लेख स्वामी को अगर पसंद न आता तो वे पूछते थे, 'लिखने वाला कौन था ?' सौभाग्य से काकासाहब को लिखने वाले भी उच्चकोटि के लेखक मिले। चंद्रशंकर शुक्ल, उमाशंकर जोशी, जेठालाल गांधी, सरोजिनी नाणावटी और अंतिम वर्षों में कुसुम शाह जैसे कई नाम इस सूची में गिनाये जा सकते हैं, जो रसिक भी थे, विद्वान भी थे, जिज्ञासु भी थे। लिखवाते-लिखवाते एक दिन अचानक उन्होंने देखा कि उनमें जो सर्जक कलाकार है, उसने अपना सिर ऊंचा किया है। फिर वे उसके विकास की ओर भी गहरी दिलचस्पी लेने लगे। साहित्य में दिक् और काल की सभी सीमाएं तोड़कर लोगों को जोड़ने की जो शक्ति है, उसकी उन्हें बहुत कद्र थी। साहित्य के

द्वारा हम दुनिया के किसी भी कोने में बैठकर कितने ही दूर के और किसी काल के साहित्यकार के संपर्क में रह सकते हैं, उससे प्रेरणा पा सकते हैं, जीवन उन्नत कर सकते हैं। साहित्य के द्वारा हम अपने काल के लोगों की ही नहीं, बल्कि जो पैदा भी नहीं हुए हैं, उनकी भी सेवा कर सकते हैं। साहित्य की सेवा त्रिकालव्यापी संस्कृति की सेवा है, यह वे अच्छी तरह जानते थे। इसलिए अपने में दिखाई दिये सर्जक कलाकार को वे पोषण भी देते रहे।

काकासाहब सर्जक कलाकार के रूप में पहले-पहल प्रकट हुए अपनी 'हिमालयनो प्रवास' पुस्तक के द्वारा (हिन्दी में इसका 'हिमालय की यात्रा' के नाम से दादा धर्माधिकारीजी ने अनुवाद किया है)। सन् 1912-14 के बीच काकासाहब सब कुछ छोड़कर साधना के लिए हिमालय में चले गये थे। लगभग ढाई हजार मील वे यहां पैदल घूमे थे। इस लम्बी यात्रा में उन्होंने प्रकृति के जो दिव्य और भव्य दृश्य देखे, उनसे वे इतने प्रभावित हुए कि यात्रा से लौटने के बाद वे अपने अनुभव दूसरों को कहने लगे। वे कहते हैं, आनंद एक ऐसी संक्रामक अनुभूति है कि जिसे उसकी उपलब्धि हुई है वह कभी खुदगरज रह नहीं सकता। उसमें हिस्सा लेने के लिए वह दूसरों को न्यौता देता है। आनंद की इस अदम्य सर्जकता ने उन्हें हिमालय की यात्रा लिखवाने की प्रेरणा दी। उन्होंने अपने श्रोतागण और पाठकगण के रूप में अपने विद्यार्थियों को चुन लिया। वे सब गुजराती थे। जो आनंद हृदय में संग्रहीत हुआ था, वह उनमें, विद्यार्थियों में, संक्रांत करने की उन्हें इच्छा हुई—सामान्य शब्दों के द्वारा असामान्य अनुभव समझाने की यह एक अदम्य प्रेरणा थी। फलस्वरूप, 'हिमालय की यात्रा' ने गुजरात के लोगों को कवि काकासाहब और रसिक काकासाहब का परिचय करा दिया। तब से यात्रा वर्णन उनकी अभिव्यक्ति का एक प्रमुख माध्यम बना।

घुमक्कड़ी का शौक उन्हें बचपन से ही था। पिताजी के साथ उन्होंने बचपन में कई यात्राएं की थी। बिना दौड़-धूप की यह यात्राएं थीं। और बहुत सी यात्राएं पैदल या बैलगाड़ी में बैठकर की थीं। उन्हीं दिनों एक मराठी संत का एक वचन उन्होंने पढ़ा था। मनुष्य जीवन को प्रत्यक्ष और संपूर्ण आकार देने वाली सृष्टि ही ईश्वर का आद्य अवतार है—राम, कृष्ण, बुद्ध सभी बाद के हैं, ऐसा ही कुछ उस वचन का अर्थ था। इस वचन का उनके मन पर काफी गहरा प्रभाव था। इसलिए आस-पास के पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, नदी-सरोवर, पर्वत, और बादल—प्रकृति के सभी उन्मेषों में वे ईश्वर को देखने लगे थे। यही नहीं, कोई सुन्दर पत्थर दिखाई दे, तो उसमें भी वे ईश्वर की स्वयं-सिसृक्षा देखने लगे थे। उनके इन संस्कारों को स्वराज्य सेवा के कामों ने काफी पोषण दिया। स्वराज्य के कारण उन्होंने देश में कई बार कई चक्कर लगाये। देश में एक भी

प्रदेश ऐसा नहीं होगा, जहां वे न पहुंचे हों। फलस्वरूप, देश में एक भी ऐसा पर्वत नहीं होगा, जिस पर उन्होंने आरोहण न किया हो। एक भी नदी ऐसी नहीं होगी, जिसका आचमन उन्होंने न किया हो। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और द्वारका से लेकर सदिया तक के इस विशाल भारतवर्ष में काकासाहब जितने और जितने बार घूमे हैं, उतना शायद ही कोई घूमा होगा। अपवाद के रूप में केवल दो नाम लिये जा सकते हैं : एक, गांधीजी का और दूसरा विनोबा का। पर गांधी-विनोबा ने हिमालय पादाक्रांत किया हो, ऐसा नहीं लगता। अपनी इस भारत यात्रा में काकासाहब ने जो कुछ देखा उसके कुछ अंश हमें उनकी दो पुस्तकों में मिलते हैं : एक, 'रखडवानो आनंद' (घुमक्कड़ी का आनंद) में और दूसरी 'जीवनलीला' में। पहली पुस्तक में देश के नितांत सुंदर और अत्यन्त महत्व के लगभग पैंसठ स्थलों के वर्णन हैं। तो दूसरी में नदियों, प्रपातों, सरोवरों, समुद्रतटों के वर्णन हैं। गुजराती भाषा के एक गौरव ग्रंथ के रूप में 'जीवन लीला' को साहित्य अकादेमी ने देश की सभी भाषाओं में अनुवादित करने के लिए चुना है।

यात्रा वर्णनों की उनकी शैली उनकी अपनी है—सीधी, सरल, प्रसन्न, प्रांजल, आडम्बर रहित। वाल्मीकि से लेकर रवीन्द्रनाथ तक की जो सांस्कृतिक धारा इस देश में बहती आई है, उसके काकासाहब सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। इसलिए उनकी शैली में पिछले पांच हजार साल की संस्कृति की सौरभ भी महकती है।

उनकी इस शैली को उमाशंकर जोशी ने काकासाहब की कविता कहा है। वाकई वह गद्य में बहने वाली कविता ही है ✓

काकासाहब ने कभी सैरगाह की तरह यात्राएं नहीं कीं। यात्राओं के द्वारा जीवन का केवल आनंद लूटना उनका उद्देश्य कभी नहीं रहा। वे जहां भी गये, जीवन को समझने परखने के उद्देश्य से ही गये। इसलिए हिमालय की यात्रा में अल्मोड़ा में जब वे गायों की दुर्दशा देखते हैं, उनका जी मचलने लगता है। और जनता को जगाने के लिए वहां की प्रचंड घंटा बजाने की उन्हें इच्छा हो जाती है। काश्मीर में बेगारी को देखकर उन्हें स्वर्ग में नरक की प्रतीति होती है। काकासाहब असम की यात्रा करते हैं। वहां का अप्रतिम प्राकृतिक सौंदर्य देखकर प्रभावित होते हैं। लोगों में जहां-तहां जो कला-रसिकता दिखाई देती है, उसकी कद्र करते हैं। वहीं उनकी नजर असम की सीमा पर जा पड़ती है। वहां कई तरह की पहाड़ी जातियों के लोग उन्हें दिखाई देते हैं। सीमा की उस पार की हलचलों की भनक भी उन्हें सुनाई देती है। और उनकी आत्मा बोल उठती है : "अब इसी वर्ष चीनी लोगों का एक विश्वविद्यालय समुद्र तट से असम की सीमा से केवल सौ दो सौ मील के अंतर पर आ पहुंचा है। पहाड़ी मार्ग, मोटर

गाड़ियां और हवाई जहाजों के द्वारा अब चीन के साथ हमारा संपर्क काफी बढ़ने वाला है। कहीं ऐसा न हो कि हमें अपनी ईशान्य सीमान्त की पहाड़ी जातियों का वर्णन और उनकी सूक्ष्म जानकारी चीनी प्राध्यापकों से लेनी या सीखनी पड़े।"

काकासाहब गोवा जाते हैं। लगभग आठ बार वे गोवा देखने गए। फिर भी कहते हैं, "मुझे नहीं लगता कि मैंने गोवा ठीक तरह से देखा है।" गोवा की वनश्री पर वे मुग्ध हैं। इस वनश्री के साथ घुलमिल जाने वाले गोवा के मंदिरों और गिरजाघरों के दर्शन से प्रसन्न होते हैं। तुरन्त उनका ध्यान गोवा की जनता की ओर जाता है। और वे कह उठते हैं, "गोवा के जीवन में आज कोई मेल नहीं है। उसकी आत्मा बेचैन है। उसने कुछ खोया है। अपनी सृष्टि-निष्ठा और परंपरा-पूजा को छोड़कर उसे नव निर्माण करना है। कुछ करके दिखाना है।" गोवा के प्रति उनके मन में आदर है, अभिमान है। कभी-कभी उन्हें उसकी ईर्ष्या भी होती है। पर उसके दर्द को देखकर उन्हें उसकी दया भी आती है। और इस दर्द के लिए उन्हें दवा भी सूझती है। वे कहते हैं, "हिन्दू और ईसाई इन दो स्वायत्त दुनिया में विभक्त इस छोटे से समाज को जोड़ने वाली एक कड़ी है—वह है, उनकी मधुर कोंकणी भाषा। उसकी सेवा में ही यह प्रजा तेजस्वी बन सकती है।"

और काकासाहब कोंकणी के बड़े समर्थक बन जाते हैं। गोवा की समस्याओं की चर्चा करने वाली उनकी मराठी में एक पुस्तक है : 'पुण्यभूमि गोमंतक।'

स्वराज्य आया तब गांधीजी ने उन्हें राजनीति में जाने की इजाजत दी थी। लाल बहादुर शास्त्री लिखते हैं कि "काकासाहब अगर चाहते तो किसी भी ऊंचे पद पर पहुंच सकते थे।" कृपलानीजी के शब्दों में "कम-से-कम गवर्नर तो बन ही जाते।" स्वराज्य की बागडोर जिनके हाथों में थी, उन्होंने जब काकासाहब से पूछा, "आपके योग्य कौन सा पद आप पसंद करेंगे?" तब काकासाहब ने हंसकर उन्हें जवाब दिया, "मुझे बुढ़ापे में शादी नहीं करनी है। आप अगर मेरी मदद करना चाहते हैं तो एक काम कीजिए, मुझे रेलवे का एक पास दिलवा दीजिए, जिससे मैं देश में कहीं भी जा सकूं और मेरे मेजबानों को प्रवास के खर्च के बोझ से बचा सकूं।"

काकासाहब को स्वराज्य सरकार ने रेलवे का पास दिया, जो अंत तक उनके पास रहा। देश भर में घूमने के लिए इससे उन्हें बड़ी सहूलियत मिली।

जब तक स्वराज्य नहीं मिला था, काकासाहब विदेशों में कहीं नहीं गए थे। उन्हें एक बात की हमेशा शर्म महसूस होती थी, "मैं गुलाम हूं। कैसे बाहर जाऊं?" अपवाद केवल दो देशों का था—एक ब्रह्मदेश का और दूसरा श्रीलंका का। पहली यात्रा में आचार्य कृपलानीजी उनके साथ थे। दूसरी में वे गांधीजी

के साथ गए थे। ब्रह्मदेश की यात्रा का वर्णन उन्होंने 'ब्रह्मदेशनो प्रवास' नामक पुस्तक में लिखा है। लंका यात्रा का केवल जिक्र ही मिलता है।

स्वराज्य मिलने के बाद वे करीब-करीब सारी दुनिया घूमकर आये। सन् 1950 में उन्होंने पूर्व अफ्रीका के युगांडा, केनिया, तंजानिया, जंजीबार, रूआंडा-उरूण्डी आदि देशों की यात्रा की। 1952 में प्रथम यूरोप में फ्रांस, जर्मनी, स्विटज़रलैंड, इंग्लैण्ड और पुर्तगाल की यात्रा की और बाद में पश्चिम अफ्रीका के गोल्ड कोस्ट (घाना) और नाइजेरिया तथा उत्तर अफ्रीका के मित्र देश की यात्राएं कीं। 1954 में वे पहली बार जापान गये। 1957 में दूसरी बार गये। लौटते समय चीन, थाईलैण्ड और कम्बोज (कांपूचिया) आदि देशों में घूम कर आये। 1958 में उन्होंने वेस्ट इंडीज, ट्रिनीडाड, ब्रिटिश-गियाना, सूरीनाम, और संयुक्त राष्ट्र अमरीका की यात्रा की। 1959 में दुबारा पूर्व अफ्रीका के चार देशों के अलावा मारीशस, री-यूनियन, माडागास्कार (मालागासी) आदि देशों में हो आये। 1963 में वे तीसरी बार जापान गये। उसी साल सोवियत देश की भी यात्रा की। 1967 में चौथी बार जापान गये। दो साल बाद 1968 में पांचवीं बार और 1972 में छठी बार जापान हो आये।

पहली बार की अफ्रीका यात्रा का वर्णन उन्होंने 'पूर्व अफ्रीका मां' (हिन्दी में : 'उस पार के पड़ोसी') पुस्तक में दिया है तो जापान की पहली दो यात्राओं का वर्णन 'उगमणो देश' (हिन्दी में : 'सूर्यादय का देश') पुस्तक में आया है। बाकी की यात्राओं के कुछ वर्णन 'यात्रा का आनंद' पुस्तक में, तो कुछ 'मंगल प्रभात' की फाइलों में है। मारीशस की यात्रा का वर्णन गुजराती में 'शर्कराद्वीप मारीशस' पुस्तक में संग्रहीत किया गया है।

काकासाहब के व्यक्तित्व के इस चिरप्रवासी पहलू की ओर देखकर गुजरात के एक श्रेष्ठ संस्कृति उपासक ने उन्हें 'संस्कृति के परिव्राजक' उपाधि दी थी, जो उन्हें ठीक-ठीक घटती थी, चरितार्थ होती थी। काकासाहब ने लिखा है, "यात्रा का अवसर प्राप्त होते ही मनुष्य के पैर बिना पूछे चलने लगते हैं। यदि कोई उससे पूछे, कहां चले ? तो वह कह देता है, मैं कुछ नहीं जानता। जहां तक जा सकूंगा, चला जाऊंगा। जाना, चलना, नई-नई अनुभूतियां प्राप्त करना, बस, इतना ही मैं जानता हूं। आंखें प्यासी हैं, शरीर भूखा है, इसलिए पैर चलते हैं। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। अर्थात्, 'कालौह्यं निरवधि' मानकर 'विपुला पृथ्वी' की परिक्रमा पर निकल पड़ना ही मेरा उद्देश्य है।"

भारत भ्रमण में भारत भक्ति से उनका रोम-रोम पुलकित होता रहा। इस भ्रमण के जो वृत्तांत उन्होंने लिखे, वे उनकी दृष्टि में भारत माता की पूजा में

अर्पित उनके 'भक्ति कुसुम' थे। स्वतंत्र भारत के एक स्वतंत्र नागरिक के रूप में जब वे पृथ्वी की परिक्रमा करने लगे, वे 'पृथ्वी-पुत्र' बन गये। 'माता भूमि : पुत्रोहं पृथिव्या' वृत्ति से ही घूमते रहे। संसार के सभी देश उन्हें अपने मालूम होने लगे। सभी नदियां उन्हें लोकमाताएं सी लगने लगीं। सभी पर्वत देवात्मा प्रतीत हुए। जहां पर भी गये, अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप रखकर आये। जोमो केनियाटा, पीटर कोईनांगे, ज्यूलियस न्येरेरे, म्बोया, एनक्रूमा, मार्टिन लूथर किंग, निचिदास्तु फुजीई—कइयों से उनके घनिष्ट संबंध प्रस्थापित हुए।

सर्जक कलाकार काकासाहब की पुस्तकों में एक बिलकुल अनोखी पुस्तक है, 'जीवननो आनंद'। "प्रकृति का एक भी दृश्य ऐसा नहीं है, जिसमें मुझे दिलचस्पी न हो।" पुस्तक के पहले ही लेख के इस पहले ही वाक्य में पुस्तक का स्वरूप और उसका पूरा वातावरण प्रकट होता है। काकासाहब प्रकृति के भक्त हैं। प्रकृति की ओर जब वे देखते हैं, प्रकृति से भिन्न मानव बनकर नहीं देखते। प्रकृति के ही स्वजन बनकर देखते हैं। इसलिए उन्हें कीचड़ में भी काव्य की अनुभूति होती है। मध्यान्ह की धूप में भी आनंद महसूस होता है। बादल, उनके बदलते आकार, संध्या समय के बादलों के रंगों की छटायें, चांदनी, अंधेरा, प्रातः काल की लीला, पत्थर, पक्षी—प्रकृति के सभी उन्मेषों और स्फुरणों में निरंतर बहती हुई आनंद धारा में वे स्नान करने लगते हैं। प्रकृति पर चैतन्य का आरोपण करने की उन्हें आवश्यकता महसूस नहीं होती। प्रकृति में सहज ही उन्हें ईश्वर का दर्शन होता है। 'दिन के शुभ्र अंधेरे में' दिखाई देने वाली प्रकृति के स्फुरणों का तृप्त आंखों से निरीक्षण करने के बाद जब वे "रात्रि के काले प्रकाश" में आकाश की ओर देखते हैं, तब उन्हें वहां "अनन्त सूर्यों वाली ईश्वर की सृष्टि" प्रकट होती दिखाई देती है और उनकी कलम से आकाशी सौंदर्य का गद्यकाव्य झरने लगता है।

आकाश दर्शन को काकासाहब ने विश्वरूप-दर्शन के समान ही पावन माना था। 1925 से लेकर 1935 तक के समय में काकासाहब ने गुजरात में कइयों को आकाश-दर्शन का चस्का लगाया था। इनमें गांधीजी भी एक थे। काकासाहब के आकाश दर्शन में प्रमुख उद्देश्य दो ही रहे—एक सौंदर्य की प्रतीति और दूसरा, हृदय की भव्यतामूलक उन्नति। दूसरा कोई प्रयोजन नहीं था। उन्हें प्रयोजन की पड़ी ही नहीं है। वे पूछते हैं, 'भला आनंद में कोई प्रयोजन हो सकता है ?' और जवाब देते है, 'छट, आनंद क्या बनिया है ?' फलस्वरूप, 'जीवननो आनंद' के निबंधों में सर्वत्र निर्हेतुक आनंद ही ओतप्रोत भरा हुआ दिखाई देता है। इसलिए इस पुस्तक की शैली में सरलता, प्रसन्नता, प्रगल्भता,

संस्कारिता—एक शब्द में कहें, तो रसात्मकता विशेष रूप से प्रकट होती है। कला की दृष्टि से काकासाहब की यह रचना सबसे बढ़िया मानी जाती है।

इस पुस्तक के अंतिम हिस्से में चौबीस निबंध हैं, जिनमें कला का हृदय, कला और जीवन, जीवन में सौंदर्य का स्थान, कला और अश्लीलता आदि कला विषयक कई प्रश्नों का उनका चिंतन संग्रहीत किया गया है। इन निबंधों में 'कला—एक जीवन दर्शन' नामक निबंध हमारा विशेष ध्यान खींचता है। काकासाहब जो लिखते थे, उसे अगर गांधी विचार का भाष्य माना जाय, तो कहना होगा कि गांधी दृष्टि की सौंदर्य मीमांसा इस निबंध में हमें मिल सकती है। गांधी दृष्टि की सौंदर्य या कला मीमांसा पर कोई कुछ लिखना चाहे तो काकासाहब का यह निबंध निश्चय ही दिशा दर्शन कर सकता है।

गांधी विचार के लिए काकासाहब का यह एक अत्यन्त मौलिक योगदान है।

कला की दृष्टि से उनकी और एक रचना श्रेष्ठ मानी गई है : 'ओतराती दीवालो' (हिन्दी में : उत्तर की दीवारें)। इसका जिक्र इससे पहले किया जा चुका है। काकासाहब जेल में हैं। कौवे और कबूतरों का निरीक्षण करते हैं। चींटियों मकोड़ों को देखते हैं। और उनके बारे में लिखते हैं। कहीं विचारों की गहनता नहीं, भव्य दृश्यों का वर्णन नहीं, न उपदेश, न प्रचार, न विद्वत्ता। एक समीक्षक ने लिखा है, "साहित्य की दुनिया में निष्काम कर्म के लिए अगर कोई स्थान हो तो वह इस पुस्तक में पाया जायेगा।"

संभवतः विश्व साहित्य में यह एक अनोखी पुस्तक है। ललित निबंधों के संग्रहों में हिन्दी में 'प्रकृति का संगीत', और 'उड़ते फूल' मराठी में 'खेळकर पानें' और गुजराती में 'अवारनवार' विशेष उल्लेख योग्य हैं। संस्मरणात्मक साहित्य में 'स्मरणयात्रा' (गुजराती, हिन्दी, मराठी में) 'गांधीयुग के जलते चिराग' (हिन्दी और गुजराती में) 'नवभारत के निर्माता' और 'स्वराज्य संस्कृति के संतरी' (दोनों हिन्दी में) और 'नारी जीवन परिमल' (गुजराती में) इन पुस्तकों का जिक्र करना होगा।

चिंतक के रूप में

काकासाहब का व्यक्तित्व किसी एक सांचे में ढालना बड़ा कठिन है। काकासाहब शिक्षक थे, शिक्षा शास्त्री थे। पत्रकार थे, लोक शिक्षा के आचार्य थे। समाज शास्त्री थे, सांस्कृतिक स्वदेशी के उद्गाता थे। स्वातंत्र्य सैनिक थे, गांधी विचार के भाष्यकार थे। सर्जक साहित्यकार थे, कला विवेचक थे—काकासाहब के जीवन के इन अनेक पहलुओं में चिंतक काकासाहब का व्यक्तित्व बड़ा ही दिलकश है। जीवन का एक भी अंग ऐसा नहीं होगा, जिसका उन्होंने

गहराई के साथ चिंतन न किया हो और नये परिप्रेक्ष्य में उसे मौलिकता प्रदान न की हो। गहरे-से-गहरे और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रहस्य को सहज भाव से आकलन करने की उनकी क्षमता अद्‌भुत थी। उनके सारे साहित्य में चिंतक काकासाहब सबसे अधिक उभर आते हैं। उनमें जो सर्जक कलाकार था वह चिंतक काकासाहब का हमेशा सेवक रहा। इसलिए जटिल-से-जटिल तत्वों का बिलकुल आसान शब्दों में काकासाहब निरूपण कर सके। भारतवर्ष की आध्यात्मिक साधना जो वेद, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, संत साहित्य और भक्ति साहित्य में विकसित हुई, उसी का पोषण काकासाहब के व्यक्तित्व को मिलता रहा। इसी वायुमंडल में उनकी परवरिश हुई। उन्हीं संस्कारों में उनका व्यक्तित्व खिला। पर उसी में काकासाहब ने अपने को बंदिस्त नहीं रखा। उनकी निरंतर खोज उन्हें काफी आगे ले गई। उनकी चिंतनात्मक पुस्तकों में जिस पुस्तक को सन् 1966 में साहित्य अकादमी ने गुजराती भाषा की पिछले तीन वर्षों में प्रकाशित सबसे बढ़िया पुस्तक के रूप में पारितोषिक दिया वह 'जीवन व्यवस्था' (यह हिन्दी में अनुवादित हुई है) उनके उन्नासी निबंधों का एक संग्रह है, जो धर्म और संस्कृति के उन्नासी प्रश्नों की बिलकुल नये परिप्रेक्ष्य में चर्चा करता है। इससे पहले 'जीवन-चिंतन' नाम की इसी कोटि की और एक पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई थी। इसमें भी उन्होंने सत्य, अहिंसा, प्रार्थना, ईश्वर आदि धर्म जीवन के भिन्न-भिन्न तत्वों की नये परिप्रेक्ष्य में चर्चा की थी। 'धर्मोदय' में धर्मानुभवों के संस्मरण हैं। धार्मिक अनुभवों से लोग अक्सर ईश्वर विषयक अनुभव या अतीन्द्रिय अर्न्तरात्मा विषयक अनुभव समझते हैं। पत्थर पानी पर तैरे, गैबी आवाज सुनाई दे, बिना कारण प्रकाश दिखलाई पड़े, अनपेक्षित मदद मिले—इन्हीं अनुभवों को लोग धर्म के अनुभव समझते हैं। काकासाहब की राय में जिन अनुभवों के कारण आत्मा का विकास हो, व्यक्तित्व बढ़े, अतीन्द्रिय वस्तुओं पर उचित श्रद्धा बढ़े और मनुष्य इन्द्रिय सुख की लालसा छोड़कर ऊंचा चढ़े, यही सच्चे और ठोस धर्मानुभव हैं। 'धर्मोदय' में उन्होंने अपने आंतरिक जीवन की—'इनर लाइफ' की—बातें बड़े ही रोचक ढंग से की हैं। पं० सुखलालजी को यह पुस्तक बहुत पसंद आई थी। सुखलालजी ने उनकी जो और एक पुस्तक की मुक्तकंठ से स्तुति की थी, वह थी 'गीता धर्म'। यह सिंध हैदराबाद की जेल में मूल मराठी में लिखवाई गई थी, जिसमें गीता के सोलहवें अध्याय के दैवी संपत् के गुणों का समाज-शास्त्र की दृष्टि से विवेचन किया गया है। गीता को काकासाहब सामाजिक संदेश देनेवाली पुस्तक मानते थे। अर्जुन-विषाद में समाज हित की ही दृष्टि प्रधान है, ऐसा कहते थे। गीता पर समय-समय पर उन्होंने जो कुछ लिखा, वह 'जीवन प्रदीप' नामक गुजराती पुस्तक में

संग्रहीत किया गया है। गीता के सौ अर्थघन शब्दों का मनन जिस पुस्तक में आया है, उस 'गीता रत्न-प्रभा' का जिक्र इससे पहले आ चुका है, वह नित्य मनन के लिए उपयोगी पुस्तक है। गीता पर उन्होंने कुछ व्याख्यान दिए थे, वह 'गीता के प्रेरक तत्व' पुस्तक में लिपिबद्ध किये गये हैं। काकासाहब का यह गीता साहित्य चिंतन की मानो एक बड़ी खान है। गीता की तरह काकासाहब को उपनिषद भी प्रिय थे। उपनिषदों के बारे में उन्होंने दो छोटी पुस्तकें (दोनों हिन्दी में) लिखी हैं—'उपनिषदों का बोध' और 'ईशावास्य उपनिषद'।

चौरासी साल की उम्र में उनकी और एक पुस्तक प्रकाशित हुई—'जीवन-योग की साधना'। समय-समय पर लिखे गये उनके सत्तर निबंधों का यह एक संग्रह है। काकासाहब जिस निरन्तर खोज में लगे हुए थे, वह उन्हें कहां तक ले गई थी, इसका कुछ ख्याल यह पुस्तक हमें देती है। उदाहरणार्थ—

भारत के अध्यात्म की सबसे बड़ी खोज है, आत्मा। हमसे कहा गया है, आत्मा को खोजो, आत्मा को समझो। आत्मा को पहचानो। आत्मा ही जीवन का सारसर्वस्व है। काकासाहब कहते हैं: "हां, आत्मा में जीवन का सारसर्वस्व आ जाता है। इसमें कोई शक ही नहीं कि आत्मा को खोकर जीना महत् हानि है, महती विनष्टि है। पर···" काकासाहब यहां रुक जाते हैं और समझाते हैं, "इत्र में भी फूल का सारसर्वस्व आ जाता है। पर इत्र फूल नहीं है। सुभग आकृति, ताजगी, कोमलता, यौवन, रंगों का विलास, सुगंध—और इन सबके साथ क्षण-जीवत्व मिलकर फूल बनता है। इसलिए वह हमें प्यारा है। फूल का आनंद इत्र नहीं दे सकता। वैसे ही जीवन का उत्तम रस भले ही आत्मा में आ जाता हो, आत्मा जीवन नहीं है। केवल आत्मदर्शन काम का नहीं। आत्म दर्शन युक्त जीवन दर्शन महत्व का है। वही सर्वश्रेष्ठ दर्शन है।"

अध्यात्म-विद्या को आखिरकार जीवन की ही सेवा करनी है।

अध्यात्म—विद्या ने ध्यान को—मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया को—बहुत महत्व दिया है। कहते हैं, जो ध्यान में बैठता है, उसकी कमरे में कौन आया, कौन नहीं आया, इसकी ओर भी दृष्टि नहीं जानी चाहिए। तभी उसकी एकाग्रता सिद्ध हुई, ऐसा कह सकते हैं। काकासाहब एकाग्रता को सर्वोच्च सदगुण नहीं मानते। वे कहते हैं, "एकाग्रता से उत्कटता को ज्यादा महत्व है। एकाग्रता लाने की कोशिश उतनी जरूरी नहीं है, जितनी उत्कटता की है। उत्कटता के साथ-साथ अनेक दिशाओं में एक साथ दृष्टि पहुंचाने की शक्ति भी जरूरी है।" इस शक्ति को वे 'विकिरण शक्ति' कहते थे।

वे एक उदाहरण देकर कहते हैं, "मैं चौराहे पर हूं। साइकल पर बैठकर जा रहा हूं। मुझे रास्ता लांघना है। चारों ओर लोग आते-जाते हैं। वाहन आते

हैं, जाते हैं। पशु भी आते हैं, बच्चे भी आते हैं। सबको संभालकर मुझे रास्ता तय करना है। कैसे करूंगा? सबकी गति स्थिति दिशा का हिसाब लगाकर ही जब मैं अपनी गति और दिशा निश्चित करूंगा तभी जा सकूंगा। वरना मैं गफलत में आ जाऊंगा और दूसरों को भी खतरे में डालूंगा। इसमें जो सतर्कता बरती जाती है, उसको मैं विकिरण शक्ति कहता हूं। यह शक्ति एक साथ असंख्य तत्वों की ओर ध्यान पहुंचाने की शक्ति है। यह ध्यान की ही शक्ति है। विश्व सेवा के लिए एकाग्र ध्यान के साथ विश्वाग्र ध्यान की भी जरूरत है।"

दुनिया भर के संतों ने शरीर की निंदा की है। मानो अध्यात्म साधना में सब से अधिक रुकावट शरीर से ही आती हो। कभी-कभी हम कहते हैं, मन तो ऊपर चढ़ना चाहता है, पर शरीर दुर्बल है—द स्पिरीट इज विलिंग, बट द फ्लैश इज वीक। और गिरते हैं तब शरीर को सजा देते हैं। काकासाहब पूछते हैं, "आप शरीर को क्यों सजा देते हैं? शरीर तो हमारा निष्ठावान साथी है। हम उस पर अत्याचार करते हैं तो भी बेचारा शिकायत नहीं करता। हम हद से ज्यादा खाते हैं, यह अत्याचार शरीर चुपचाप सह लेता है। हम उसे नींद लेने नहीं देते तो भी बेचारा बर्दाश्त कर लेता है। शरीर अपनी तरफ से कभी भी कोई शरारत नहीं करता। शरारत असल में मन करता है। और आप सजा शरीर को करते हैं। यह सरासर अन्याय है।"

वासना पर विजय पाने के लिए देह दण्डन करना, शरीर को कष्ट देना—इस अध्यात्म को काकासाहब गलत अध्यात्म कहते थे। काकासाहब के ऐसे कई मौलिक विचार उनके इन चिंतन प्रधान लेखों के संग्रह में हमें मिलते हैं। खास-तौर पर उनकी डायरियों में मिलते हैं।

साहित्य के जो अनेक प्रकार हैं, उनमें पत्रसंग्रहों और डायरियों के प्रति उन का विशेष पक्षपात था। काकासाहब का जिन्दगी भर अनेक लोगों से—अनेक प्रकार के लोगों से—पत्र व्यवहार चलता रहा। इनमें कवि थे, लेखक थे, साथी थे, कार्यकर्ता थे, विद्यार्थी थे। गुजराती में उनके तीन पत्र संग्रह प्रकाशित हुए हैं। एक, 'नेत्रमणिभाईने'—एक भक्त-हृदय मित्र को लिखे हुए यह पत्र हैं। इनमें स्नेही काकासाहब के दर्शन होते हैं। दूसरा, 'विद्यार्थिनी ने पत्रो', किशोरावस्था की विद्यार्थिनी को लिखे हुए पत्र हैं। इनमें शिक्षक काकासाहब के दर्शन होते हैं। तीसरा, 'चि. चंदन ने' अपनी पुत्रवधू के नाम लिखे हुए पत्रों का यह संग्रह है। इसमें अपने रूठे हुए पुत्र सतीश को पुत्रवधु की मदद से प्रसन्न करने वाले एक पिता के हृदय के हमें दर्शन होते हैं।

काकासाहब के पत्रों में हार्दिकता है, ज्ञान है, प्रेरक तत्व हैं, विनोद भी हैं। पत्रों में वे अपना हृदय उंडेल देते हैं।

डायरियों में जो उनका व्यक्तित्व उभर आता है, वह बिल्कुल अनोखा और निराला है। उनका आंतर-जीवन इनमें प्रतिबिंबीत हुआ दिखाई देता है। उनका सारा दिन तरह-तरह की प्रवृत्तियों से भरा हुआ रहता था। रात को सोने जाते थे, उससे पहले वे अपनी डायरी में उस दिन का अपना चिंतन लिखवाते थे, जो सारे दिन के चिंतन का निचोड़ रहता था। ऐसी दो डायरियां गुजराती में और एक मराठी में प्रकाशित हुई हैं। गुजराती डायरियों के नाम हैं—'प्रासंगिक प्रतिसाद' (सन् 1968 की) और 'संध्या छाया' (सन 1969 की) और मराठी में लिखी डायरी का नाम है—'आंतरजगांतील यात्रा' (सन् 1971 की)। चिंतक काकासाहब का एक अंतरंग स्वरूप हमें इनमें देखने को मिलता है।

चिंतनात्मक पुस्तकों में उनकी सबसे अनोखी पुस्तक है—'परमसखा मृत्यु'। यह मूल हिन्दी में लिखी गई है और इसके गुजराती, मराठी, अंग्रेजी अनुवाद भी प्रसिद्ध हुए हैं।

हम आमतौर से मृत्यु का कभी विचार ही नहीं करते। इस प्रकार जीते हैं, मानो हम कभी मरने वाले नहीं हैं। या यों मानकर जीते हैं कि मरना तो है, पर इतनी जल्दी नहीं। नतीजा : हमारा जीवन आयु की दृष्टि से कितना ही लम्बा क्यों न हो, जीवन की दृष्टि से वह छिछला ही रह जाता है। असल में जीवन अगर उत्कटता से जीना हो तो मृत्यु का ख्याल अखंड जाग्रत रखकर ही जीना चाहिए। हमारे जन्म के साथ अगर कोई कदम से कदम मिलाकर चलती है, तो वह मृत्यु ही है। वह कभी हमारा साथ नहीं छोड़ती। इसलिए उसका अखण्ड स्मरण रखकर ही हमें जीना चाहिए। इस तरह से जाग्रत रहकर जीना चाहिए, मानो आज का दिन हमारे जीवन का आखिरी दिन हो सकता है। कभी-कभी वह आखिरी होता भी है। मृत्यु के सान्निध्य में जीने से ही हम उत्कट जीवन जी सकते हैं। और उत्कट जीवन ही सच्चा जीवन है।

'परमसखा मृत्यु' में उन्होंने मृत्यु के कई रहस्य हमारे सामने खोल दिये हैं। जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण देने वाली यह एक बहुत ही प्रेरक पुस्तक है। विश्व साहित्य में भी अपने ढंग की है।

इसी परंपरा की उनकी दूसरी पुस्तक है, 'ज्यां देरेक ने पहोंचवुं छे'—स्मशानभूमि के और अंत्येष्ठि विधि के बारे में चिंतनात्मक लेखों का यह संग्रह है।

मराठी, गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाएं काकासाहब को एक सी प्रिय थीं। तीनों में वे सहज रूप से लिखते रहे। मराठी में उनकी पैंतालीस पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें सत्रह मूल मराठी में लिखी हुई हैं, अठाईस अनुवादित हैं। गुजराती में उनकी त्रेपन पुस्तकें हैं, जिनमें केवल छह अनुवादित हैं, सैंतालीस मौलिक हैं। हिन्दी में तैंतालीस पुस्तकें हैं, जिनमें केवल उन्नीस अनुवादित हैं, चौबीस मौलिक हैं।

साहित्य अकादमी की स्थापना हुई, उस समय डा० राधाकृष्णन ने कहा था कि भारतीय साहित्य एक है, यद्यपि वह अनेक भाषाओं में लिखा जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार रवीन्द्रनाथ भारतीय साहित्यिक थे, यद्यपि वे बंगला भाषा में लिखते थे। सुब्रह्मण्यम् भारती भारतीय साहित्यिक थे, यद्यपि वे तमिल भाषा में लिखते थे। वल्लथोल भारतीय साहित्यिक थे, जो मलयालम में लिखते थे। यह सभी भारतीय लेखक थे, जिनको उनकी अपनी अपनी भाषाएं थीं। भारत के साहित्यिक संसार में ऐसे भी लेखक हैं, जिन्होंने अपनी भाषा के अलावा दूसरी भी एक भाषा में लिखा है। काकासाहब उन इने-गिने साहित्यकारों में से थे, जिन्होंने एक साथ तीन भाषाओं में साहित्य निर्मिति की है। इस बहुभाषिक देश में साहित्यकार का बहुभाषिक होना गांधीयुग का एक आदर्श रहा। इस आदर्श का एक सुन्दर उदाहरण काकासाहब के ही एक विद्यार्थी ने दिया है। गिरधारी कृपलानी सिंधी भाषिक थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ की 'अचलायतन' नामक एक बंगला कृति का गुजराती में अनुवाद किया। और काकासाहब ने, जो मराठी भाषिक थे, इसकी गुजराती में प्रस्तावना लिखी। गुजराती 'अचलायतन' में चार भाषाओं का इस प्रकार समन्वय हुआ है।

साहित्य जीवन के लिए ही होता है। उसका उद्गम भी जीवन में से ही होता है। और साहित्य सेवन का फल जीवन का आनंद, जीवन की संस्कारिता और जीवन की कृतार्थता ही है। इतनी विपुल साहित्य निर्मिति करने पर भी काकासाहब कहा करते थे कि "मैं साहित्य सेवी नहीं हूं। साहित्योपासक भी नहीं हूं। साहित्य प्रेमी अवश्य हूं। साहित्य का मैंने काफी आस्वाद लिया है। और मुझपर उसका प्रभाव भी है। साहित्य बुद्धि की प्रगल्भता को प्रकट करता है। भावनाओं को सूक्ष्म बनाता है। अनुभवों को पींजकर विशद करता है। धर्म बुद्धि को जाग्रत करता है। हृदय की वेदना को तेजस्वी बनाता है। और आनंद को स्थाई रूप देता है। इसलिए साहित्य के प्रति मेरे मन में आदर है। पर मैंने अपनी निष्ठा साहित्य को अर्पित नहीं की। साहित्य को मैंने इष्ट देवता के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। उसका साधन के रूप में

ही स्वीकार किया है। और साहित्यकार मुझे क्षमा करें तो कहूंगा, वह साधन के रूप में रहे यही मैंने चाहा है। तुलसीदासजी के मन में हनुमानजी के प्रति आदर था। पर उन्होंने अपनी निष्ठा तो श्रीरामचंद्रजी को ही अर्पित की थी। मैं भी यही चाहता हूं कि हमारी उपासना साहित्य से अधिक जीवन की ही हो।"

जीवन का अर्थ ही है हृदय का विकास, ज्ञान का विस्तार और कौशल्य की परिसीमा। इस उद्देश्य को हांसिल करने का एक साधन—इसी रूप में उन्होंने साहित्य की ओर देखा।

जय पराजय और अन्तिम यात्रा

सेवा ही जिनके जीवन की प्रधान प्रेरणा रही हो, उनके लिए जय पराजय, सफलता असफलता कोई माने नहीं रखते। वह नैतिक दृष्टि से इनको कोई महत्व नहीं देता। वह इन द्वंद्वों से ऊपर उठता है। और पूरी अलिप्तता से उनका सेवन करता है।

काकासाहब के जीवन में जय पराजय के, सफलता असफलता के कई ज्वार-भाटे आये। उन्होंने उनका पूरी अलिप्तता के साथ सेवन किया। निराशा या कटुता उनके हृदय को छू तक न सकी।

दुनिया अनाथ नहीं है, इसका संचालन करने वाली एक कोई शक्ति है, यह उनकी मूलभूत श्रद्धा उन्हें हमेशा सेवा में प्रवृत्त करती रही। गुजरात को उन्होंने अपनी सेवाएं अर्पित की थीं। गुजरात के राजनैतिक नेताओं को निश्चित करने के हेतु से गुजरात छोड़कर वे बाहर गये। या यों कहना होगा, उन्हें गुजरात छोड़कर जाना पड़ा। फिर भी वे न तो कभी उन पर रुष्ठ हुए, न निराश हुए, न ही कटु बने। सांस्कृतिक गुजरात के साथ उनका संबंध बराबर बना रहा। गुजराती भाषा में उनकी सेवा भी अखंड रूप से चलती रही। गांधीजी ने उनको "सवाई गुजराती" की उपाधि दी थी। इसकी उन्हें बहुत कद्र थी। इस उपाधि के द्वारा गांधीजी ने उनमें जो विश्वास प्रदर्शित किया था, उसके योग्य बनने में वे हमेशा जाग्रत रहे।

राष्ट्रभाषा के लिए उन्होंने अपना जीवन खपा दिया था। स्वराज्य ज्यों-ज्यों नजदीक आता रहा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अदूरदर्शी नेताओं ने अंग्रेजी वालों से समझौता करके उनका सारा काम मटियामेट कर डाला। और उन्होंने हिन्दी के सिर पर राजमुकुट तो चढ़ा दिया पर राजदंड अंग्रेजी के हाथ में दे दिया। फिर भी काकासाहब निराश नहीं हुए। अंग्रेजी कभी भी इस देश की राष्ट्रभाषा बन नहीं सकती। राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है, इस

श्रद्धा से वे अंत तक काम करते रहे।

स्वराज्य के बाद देश गांधीजी से दूर जाने लगा। गांधीजी की राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति, युद्धनीति के द्वारा जो देश दुनिया का सबसे निराला और आदर्श देश बनने जा रहा था, वह योरोप की राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति और युद्धनीति को अपना कर दुनिया के कई मामूली देशों में से एक बना। फिर भी काकासाहब निराश नहीं हुए। मार खाकर यह देश किसी न किसी दिन निश्चित रूप से गांधीजी की ओर मुड़ने वाला है इस श्रद्धा से वे गांधी विचार के जितने पहलुओं को अधिक से अधिक विशद कर सकते थे, करते रहे।

राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक के समय में जिस पर सुधारकों ने सतत प्रहार किए, वह जातिभेद स्वराज्य में चुनाव की राजनीति से पोषण पाता रहा, पनपता रहा, दृढ़ होता रहा, तब भी काकासाहब निराश नहीं हुए। उल्टे जोर शोर के साथ उस पर पहले से अधिक जोरदार प्रहार करते रहे। और जिस प्रकार एक कुटुम्ब में शादी करना निषिद्ध माना गया है, एक गोत्र में करना निषिद्ध है, उसी प्रकार एक जाति में विवाह करना निषिद्ध मानना चाहिए तभी जातिभेद हटेगा, इस विचार का उत्साह के साथ प्रचार करते रहे।

धर्म, जो मानवजाति को उन्नति के रास्ते ले जाने के लिए पैदा हुए थे, वे जब अधार्मिक लोगों के हाथ में चले गये और मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवारें खड़ी करने के अलावा देश का विभाजन करने लगे, गांधी जैसे युग पुरुष की हत्या भी करने लगे, तब भी काकासाहब निराश नहीं हुए। वे धर्मों को अधार्मिक लोगों के हाथ से छीनकर उन्हें एक दूसरे के पास लाकर उनका एक धर्म कुटुंब बनाने की योजनाएं बनाते रहे।

अड़चनों के सामने काकासाहब कभी नहीं झुके। उल्टे जितनी अलंघनीय अड़चनें दिखाई दीं, उतना ही उन पर मात करने का उनका उत्साह बढ़ता गया।

व्यक्तिगत जीवन में भी उनके हिस्से में कई दुख आये। उनकी उम्र चौवालीस वर्ष की थी, तब उनकी पत्नी चल बसीं। पत्नी स्वतंत्र विचारों की और स्वतंत्र वृत्ति की थीं। आश्रमी जीवन उनका अपना आदर्श नहीं था। उल्टे उन्हें इस जीवन के प्रति एक तरह की अश्रद्धा ही थी। फलस्वरूप, पति-पत्नी के बीच गरमा-गरम बहस अक्सर हुआ करती। और बहस के बाद पत्नी रो पड़तीं। कभी-कभी मायके भी चली जातीं। इस वातावरण का प्रतिकूल प्रभाव उनके बड़े पुत्र सतीश पर पड़ा। वह यही मानता रहा कि पिताजी ने मेरी मां को बहुत सताया है, बहुत दुख दिया है। और पिताजी से रूठकर वह उनसे दूर चला गया। इधर पिताजी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करते रहे, बुनियादी शिक्षा का

समर्थन करते रहे और उधर पुत्र सरकारी कालेज की शिक्षा पाता रहा। काकासाहब के आलोचकों को--खासतौर से महाराष्ट्र के आलोचकों को, जो गांधीजी और उनके साथियों के जीवन में छिद्रान्वेषण की ही ताक में हमेशा रहे, उनको काकासाहब को दांभिक सिद्ध करने के लिए मसाला मिलता रहा। उन्होंने महाराष्ट्र में काकासाहब की भरपूर निंदा की। और काकासाहब को वह चुपचाप सुननी पड़ी। दूसरा पुत्र बाल, जो गांधीजी का बड़ा प्यारा था, वह भी बड़े भाई के प्रभाव में आकर पिताजी से दूर हुआ।

दोनों को पिताजी के बारे में आदर था। दोनों ने आजादी की लड़ाई में हिस्सा लिया था। दोनों के प्रति काकासाहब के मन में वात्सल्यभाव था। उन की स्वतंत्र वृत्ति की उन्हें कद्र भी थी।

पर पिताजी की और दोनों पुत्रों की दुनिया ही अलग हो गई थी।

गलतफहमियों के कारण जो उनसे दूर हुए थे, उनमें से कृपलानीजी कुछ समय के बाद उनके पास लौट आये। पर स्वामी आनंद इतने दूर चले गये कि उन्होंने काकासाहब का नाम भी लेना छोड़ दिया। मानो काकासाहब नाम की कोई हस्ती ही उनके जीवन में न आई हो। गिरिधारी कृपलानी, चन्द्रशेखर शुक्ल, पांडुरंग देशपांडे, नाना, धर्माधिकारी, श्रीपाद जोशी जो उनके प्रिय विद्यार्थी रहे और जिन्होंने उनके गणेश जी बनकर उनकी साहित्य-निर्मिती में मदद की थी, वे भी किसी न किसी कारण से उनसे रुष्ठ होकर उनसे अलग हो गए। "इतने अच्छे लोग मुझसे अलग क्यों हो गए", इस प्रश्न का उत्तर उन्हें कभी नहीं मिला।

सन् 1959 में उनके दूसरे पुत्र बाल की पत्नी रेवती भर जवानी में चल बसी। 1963 में सतीश की पत्नी चंदन, जो उनकी प्रिय विद्यार्थीनी भी थीं, चल बसीं। 1979 में दूसरे पुत्र बाल का हृदय की गति रुक जाने से देहांत हुआ।

इन दुखों के बावजूद वे बराबर शांत रहे। दुख न हुआ ऐसा तो नहीं कह सकते। पर दुख से ऊपर जाने की उनकी शक्ति ने उन्हें संभाल लिया।

सबसे बड़ी दुखद घटना तो गांधीजी की हत्या रही।

इन पराजयों और दुखों के साथ-साथ उन्हें सम्मान भी लगातार मिलते रहे।

सन् 1952 में वे राष्ट्रपति की ओर से राज्य सभा के लिए मनोनीत किए गये। पूरे बारह साल वे राज्य सभा के सदस्य रहे। राज्य सभा से जब निवृत्त हुए, राष्ट्र की ओर से, पद्मविभूषण' से अलंकृत किये गए।

हिन्दी हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर जिन संस्थाओं के साथ उनके मतभेद हुए

थे, उनमें से वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने सन् 1959 में उन्हें अपना सबसे बड़ा 'महात्मा गांधी पुरस्कार' बहाल किया। तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1968 में उन्हें अपनी उच्चतम पद्वी 'साहित्य वाचस्पति' देकर अलंकृत किया। सन् 1967 में सरदार पटेल विश्वविद्यालय ने, सन् 1971 में गुजरात विश्वविद्यालय ने और सन् 1974 में काशी विद्यापीठ ने उन्हें अपनी डी-लिट् की मानद उपाधियां दीं।

सन् 1971 में साहित्य अकादमी ने उन्हें अपने महत्तर सदस्य (फेलो) चुन कर सम्मानित किया।

सन् 1961 में अहमदाबाद में उन्हें पं० सुखलालजी के द्वारा 'कालेलकर अध्ययन ग्रंथ' अर्पित किया गया। तो 1965 में राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन के द्वारा उन्हें 'संस्कृति के परिव्राजक' नामक एक अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया गया। फिर एक बार सन् 1979 में उनके मित्रों ने उनके पिच्चानवेंवी वर्षगांठ के अवसर पर उन्हें 'समन्वय के साधक' नामक और एक अभिनंदन ग्रंथ अर्पण किया।

असल में उनको इन सम्मानों की कोई जरूरत नहीं थी। उन्होंने एक सम्मान के उत्तर में कहा था, "गांधीजी जैसे युग पुरुष का अनुयायी होने का सद्भाग्य मुझे मिला। और इसी जीवन में इन आंखों से भारत को स्वतंत्र होते हुए भी मैं देख सका —इसी में मुझे सब कुछ मिल गया था!···मुझे अन्य किसी सम्मान की आवश्यकता नहीं थी।" पर, सम्मानों को उनकी आवश्यकता थी। उन्हें सम्मानित करके वे खुद सम्मानित होना चाहते थे।

सन् 1965 में जब उन्हें "संस्कृति के परिव्राजक" नामक अभिनंदन ग्रंथ अर्पित करने का समारंभ हुआ, उन्होंने आयु के अस्सी वर्ष पूरे किये थे। राष्ट्रपतिभवन में वे जब सम्मान स्वीकारने के लिए गये, यही निश्चय करके गये थे कि उन्हें अब सभी कामों में पूर्ण निवृत्त होना है। इस तरह का वक्तव्य देने के इरादे से ही वे वहां गए थे। पर ज्यों ही राष्ट्रपति भवन में उन्होंने पांव रखा, उन्हें एक आवाज सुनाई दी—मानो स्वयं गांधीजी उन्हें कह रहे हों कि "नहीं, आपको अभी निवृत्त नहीं होना है। समन्वय का जो विचार आप लोगों के सामने लगातार रखते आए हैं, उसे व्यवस्थित रूप देने के लिए आप को अब एक संस्था स्थापित करनी चाहिए। आप उम्र की चिंता मत करें। काम शुरू कर दें। कोई न कोई आगे आकर इस काम को उठा लेगा।"

संस्थागत जीवन से वे करीब-करीब निवृत्त हो चुके थे। सन्निधि में उनकी संस्था 'गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा' चलती थी। उसका स्वरूप संस्था से अधिक उनके व्यक्तिगत स्टाफ के जैसा था। नई संस्था शुरू करके चलाने की उनमें अब न शक्ति रही थी, न उत्साह। फिर भी 1967 में 10 जुलाई के दिन

उन्होंने 'विश्व समन्वय संघ' नामक एक नई संस्था स्थापित की। और किसी युवक के उत्साह से वे उसे व्यवस्थित रूप देने के काम में लग गए। 1975 तक उन्होंने नब्बे साल पूर्ण किए, तब तक वे उसके लिए काम करते रहे। उनका उत्साह देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। इस उम्र में भी वे इतने कार्यशील कैसे रह सकते हैं, यह प्रश्न उनके सामने खड़ा रह जाता था। कभी कोई पूछ भी बैठता, "काकासाहब, आज भी आप सतत कार्यशील हैं। लगातार घूमते रहते हैं। कभी थके हुए, निराश हुए मालूम नहीं होते। हमेशा प्रसन्न दीखते हैं। इसका कारण क्या है ?"

और काकासाहब मुस्कराकर जवाब देते थे "मैं न बुढ़ापे की चिंता करता हूं, न मृत्यु की। हालांकि दोनों मेरे पीछे पड़े हुए हैं। मुझे पकड़ना चाहते हैं। फिर भी वे मुझे पकड़ नहीं पाते। क्योंकि मैं सतत घूमता रहता हूं। मैं कहीं जाता हूं तो वे मेरे पीछे आते हैं और लोगों से पूछते हैं, काकासाहब यहां थे न ? अब कहां हैं ? और लोग कहते हैं, कल तो यहां थे। आज मालूम नहीं कहां चले गये। फिर वे दरयाफ्त करके मुझे ढूंढते नए स्थान पर आ जाते हैं। वहां पर भी उन्हें यही अनुभव होता है। लोग कहते हैं, अभी तो यहां थे। अब मालूम नहीं, कहां चले गये।"

यह जवाब देकर काकासाहब कहते थे, "जब तक मेरी जीवन यात्रा तेजी से चलती रहेगी, बुढ़ापा और मृत्यु मुझे पकड़ नहीं सकेंगे। मैं क्या करूं ? उन्हें टालने की मेरी तनिक भी कोशिश नहीं है, न ही उन्हें मिलने की मुझे उत्कंठा है। पुराने दोस्त हैं, किसी न किसी दिन मिलेंगे जरूर। जितनी देरी होगी, उतने ही प्रेम से वे आलिंगन देंगे।"

नब्बे साल पूर्ण किये, तब तक दोनों उन्हें पकड़ न सके। अचानक एक दिन उन्हें यह महसूस होने लगा कि वे बहुत सी बातें अब बड़ी तेजी के साथ भूलते जा रहे हैं। पहले लोगों के चेहरे ध्यान में नहीं रहते थे। पर नाम भूलते नहीं थे। अब नाम भी भूलते जा रहे हैं। यहां तक कि बिल्कुल नजदीक के और पुराने साथियों के भी नाम भूलते हैं। संस्मरण लिखवाते हैं तो तथ्यों की गड़बड़ी हो जाती है। चिंतन लिखवाते हैं तो पहले की तरह दलीलें पेश नहीं कर पाते।

उन्होंने तुरंत निश्चय कर लिया कि अब लिखवाना बंद कर देना चाहिए। और पिछले पचपन वर्षों से अखंड चलती आई साहित्य सेवा उन्होंने यकायक बंद कर दी।

इसी वर्ष भारत में आपात-स्थिति की घोषणा की गई। और जयप्रकाश जैसे

देशभक्त भी गिरफ्तार कर लिये गये। उनकी समझ में नहीं आया कि यह सब क्या चल रहा है। इंदिराजी के प्रति उनके मन में वात्सल्य भाव था। इंदिरा जी भी उनकी ओर पूज्य भाव से देखती आई थीं। उनके जन्मदिन के अवसर पर वह अचूक सन्निधि में आ जातीं और उन्हें बड़ी ही नम्रता से प्रणाम करके चली जाती थीं। आपात-स्थिति की घोषणा की गई, तब काकासाहब को लगा कि विनोबा की मध्यस्थी से कुछ हल ढूंढ निकालना चाहिए। श्रीमन् नारायण, विनोबा और काकासाहब की बीच की कड़ी थे। वे विनोबा और इंदिराजी के बीच की भी कड़ी थे। उन्होंने श्रीमनजी के सामने अपना दुख रखा।

श्रीमनजी ने कहा, "विनोबा नहीं मानते कि मध्यस्थी का समय अभी आया है।"

उसी दिन काकासाहब सभी प्रवृत्तियों से निवृत्त हुए। उन्होंने अखबार भी पढ़ना छोड़ दिया। कुछ समय बाद 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' के अध्यक्ष पद से और 'मंगल प्रभात' के संपादक पद से भी उन्होंने मुक्ति ले ली। उन्हें हर रोज दस-पंद्रह पत्र आते रहते थे। उन्हें रोज वे जवाब लिखवा कर भेज देते थे। बरसों से उनका यह क्रम चलता आया था। अब पत्रों के जवाब देना भी छोड़ दिया।

दुनिया की सारी प्रवृत्तियों से रस खींचकर वे ईश्वर के सान्निध्य में रहने लगे।

अंतिम पांच वर्षों में वे दुनिया से बिल्कुल अलिप्त हो गये थे। मालूम होता था, मानो बाह्मी स्थिति में रहते हों। उनके आंतरिक जीवन में तृप्ति थी, वह उनके चेहरे पर दीप्ति के रूप में प्रकट होती थी। उन्हें देखने पर सभी लोगों के मन में यही प्रश्न उठता था, "क्या, बुढ़ापा भी इतना सुन्दर हो सकता है।"

वे हमेशा ब्रह्ममुहूर्त में उठते थे। फिर ध्यान करने बैठते थे। बाद में कुछ पढ़ने लगते थे। पढ़ना यही एक प्रवृत्ति थी, जो अंत तक अखण्ड रूप से चलती रही। सारा दिन कुछ न कुछ पढ़ते ही रहते थे। कभी संत साहित्य, तो कभी उपनिषद। स्वाध्याय में उन्होंने खंड पढ़ने नहीं दिया। दस बजे के करीब एकाध घंटे के लिए सो भी जाते थे। तब नींद में कभी-कभी उनके वर्ग चलते रहते। मृत्यु के कुछ ही दिन पहले नींद में वे किसी को ईशावास्य उपनिषद का एक श्लोक : कुरुवन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समा : का अर्थ समझा रहे थे। वह भी अपनी जन्म भाषा मराठी में, "सौ वर्ष जीना चाहिए। पर कैसे ? कर्म करते हुए, सेवा करते हुए।"

जागने पर उनके एक अनोवासी ने उन्हें बताया, "आज आपने नींद में भी अपना वर्ग चलाया। आप किसी को ईशावास्य समझा रहे थे।"

मुस्कराकर बोले, "जिन्दगी भर शिक्षक जो रहा।"

अखबार तो नहीं पढ़ते थे। पर हवा में उनको शायद कुछ मिल जाता होगा। कभी कहते, "इस तरह तो नहीं चल सकता। किसी को जाकर उन्हें समझा देना होगा कि आप गलत रास्ते से जा रहे हैं।..."

एक दिन नींद से उठते ही उन्होंने अपनी मानस कन्या सरोज बहन से कहा, "सरोज, मुझे जीवत की चिंता होती है। वे कैसे हैं? जरा पूछ तो लो।"

जीवत यानी आचार्य कृपलानी।

सरोज बहन ने फोन पर कृपलानीजी को यह बता दिया। कृपलानीजी तुरन्त उनसे मिलने के लिए सन्निधि में आ गये। कृपालानीजी की आंखें कमजोर हो गई थीं। उन्हें स्पष्ट दिखाई नहीं देता था। काकासाहब के कान कमजोर हो गये थे। उन्हें सुनाई नहीं देता था। कृपलानीजी को देखते ही काकासाहब बड़े प्रसन्न हुए।

"कैन यू सी मी?" कृपलानीजी ने पूछा।

सरोज बहन ने स्लेट पर कृपलानीजी का प्रश्न लिखकर काकासाहब को दिखाया। तुरन्त जवाब दिया, "यस, आई केन सी यू वैरी वैल, बट कान्ट हियर यू।"

दोनों एक दूसरे का हाथ हाथ में लेकर कई देर तक स्पर्श से एकदूसरे के साथ बातें करते रहे।

16 अगस्त 1981.

काकासाहब को बुखार आया। 17 और 18 को वह एक दो के बीच लगातार रहा। 19 और 20 अगस्त को कुछ बढ़ा। 21 अगस्त को वह चार तक बढ़ गया। उस दिन सुबह उन्हें प्यास लगी। दस बजे के करीब अचानक उनका चेहरा चमक उठा। उन्होंने आंखें खोलीं। मानो आनंद से सुलग रही थीं। उमड़ती धन्यता से और आनंद विभोर वे सामने देखते रहे। मालूम होता था, मानो कोई दिव्य दर्शन पा रहे हैं। सरोज बहन जो लगभग तियालीस वर्ष उनके सान्निध्य में रहीं, कहती हैं, "मैंने इतने वर्षों के सान्निध्य में कभी भी ऐसा दिव्य भाव उनके वदन पर नहीं देखा।" दो तीन मिनट तक वह चलता रहा। फिर, धन्यता की एक सांस छोड़कर उन्होंने आंखें बंद कर लीं।

काकासाहब ने अपने अंतिम क्षणों में क्या देखा होगा? क्या, उन्हें भगवान के दर्शन हुए होंगे? या उनके परमसखा मृत्यु के हुए होंगे? या गांधीजी के

हुए थे ?

कुछ दिन पहले उनके एक अंतेवासी ने उनसे पूछा था; "काकासाहब, आप करीब-करीब सबको भूल गये हैं। क्या, गांधीजी को भी भूल गये ?"

"बिल्कुल नहीं," काकासाहब ने जवाब दिया था, "उनका मुझ पर और मेरे समय पर इतना गहरा प्रभाव है कि उनको भूलना असंभव है।"

फिर, मुस्कराकर बोले थे, "पर एक बात है। वे दुनिया में नहीं हैं, यह बात कभी-कभी ध्यान में नहीं रहती। लगता है, कहीं हैं और काम कर रहे हैं। बहुत दिन हुए, उनसे नहीं मिला। अब मिलने जाना है।···मतलब, गांधीजी मेरे लिए अभी भी जीवित हैं।"

संभव है, अंतिम क्षणों में उन्हें गांधीजी ही दिखाई दिये हों।

दोपहर को उन्होंने फिर से एक बार आंखें खोल दीं। आसपास उनके अंतेवासी थे। हर एक की ओर देखकर वे मुस्कराये। कुछ देर बाद, दोपहर के पौने तीन बजे, उन्होंने एक हल्की सी हिचकी ली और···

अनंत की यात्रा के लिए वे चल पड़े।

किसी को मालूम भी नहीं हुआ कि वे चल बसे हैं। पंद्रह मिनट के अंदर उन के अंतिम दर्शन के लिए इंदिराजी वहां आ पहुंचीं। फिर कृपलानीजी आए। एक घंटे के अंदर दिल्ली का सारा सांस्कृतिक, साहित्यिक, शैक्षिक और रचनात्मक जगत उन्हें विदा देने के लिए वहां आ पहुंचा।

उनका पार्थिव शरीर अंतिम यात्रा के लिए तैयार हुआ, तब आचार्य कृपलानी पास में खड़े डबडबी आंखों से उसकी ओर देखने लगे। सतीशभाई से रहा नहीं गया। उन्होंने कहा, "चाचाजी, मैं अब अकेला पड़ गया हूं।" कृपलानीजी ने तपाक से उत्तर दिया, "पागल, अकेला तो मैं पड़ गया हूं। मुझे जीवत कहकर पुकारने वाला यही एक आदमी था, सारी दुनिया में। वह भी अब चला गया।"

मृत्यु के समय काकासाहब की उम्र छियानवे वर्ष की थी। सौ वर्ष पूर्ण करने के लिए केवल चार वर्ष बाकी थे। पर किसी ने कहा है, काकासाहब के जीवन का वर्षों से हिसाब लगाना गलत है, क्योंकि वर्षों में वे कभी नहीं जीये। वे जीकर वर्षों में जीवन भरते रहे।

"मृत्यु जीवन का पूर्ण विराम नहीं है। वह तो अमरलोक में प्रवेश करने का द्वार है। मरण का स्मरण रखकर जो अलिप्तता से जी सका उसी को अमरलोक का अधिकार प्राप्त होता है। मृत्यु एक सुन्दर चीज है। उसकी अपनी लिज्जत भी है। धूप या कपूर जिस तरह जलकर समाप्त होते समय सर्वत्र सुगंध फैलाता

है, उसी तरह सज्जनों की मृत्यु भी प्रसन्न, मंगल और सुवासित होती है। संगीत की लय जैसी मधुर होती है और पीछे आनंददायी स्मृति छोड़ती है, उसी तरह जीवन की लय को भी सज्जन लोग संगीतमय आह्लादमय और परम शांतियुक्त बनाते हैं।···

मरण जीवन की कृतार्थता है···
और जीवन तो निरंतर जारी ही है।···"[1]

1. परमसखा मृत्यु।

XII—158 & 159 Jail

PRISONER'S LETTER

कैदी की चिट्ठी. Seoni C.P. JAIL

From Prisoner No. ___ कैदीका नंबर, Name नाम Kaka (दा.) Kalelkar

Dated 15th April 44 — 194 १९४ 201
तारीख Saturday.

Sanctioned मन्जूर
B. R. Chauhan
Superintendent.
साहब सुपरिन्टेन्डेन्ट.

प्रिय इन्दु आणि सरोज,

आज ही ता. दुपारी वेल्लोर सोडले व आठच्या संध्याकाळी नागपूरहून मोटारने शिवनी च्या जेलमध्ये येऊन दाखल झालो। येथील हवा नागपूरपेक्षा थंड आहे म्हणून आम्हाला येथे काम ते आहे। येथे गाभीर्‍याची दुधाची सोय झाली आहे। गाभीर्‍याचे तूप चिनाबूमेकडून मागविले आहे। येथे गहूच्या ची सोय चांगली आहे। पण वेल्लोरसारखी मोकळी जागा नाही व झाडे ही नाहीत। फुलबाग चांगला आहे। त्यामुळे प्रसन्नता वाटते। जागा लहान असल्या मुळे आम्हाला लोकांचा गोंगाट सहन करावा लागतो। माझे सारख्या शांतिप्रियाची येथे कसोटी होते। असो ही संधी चांगली आहे तर। चि. सरोजची दोन पत्रे वेल्लोरहून वळविलेली येथे मिळाली त्यांपैकी इंग्रजी वहीतले हिंदी येथे पत्र लवकर मिळाले। चि. इन्दु तर एकही पत्र लिहावयाचीच नाही। मात्र माझ्या पत्राची रुपेरेषा ते ही करते। तिला म्हणावे तुझे व्रत कायम ठेव। तुला सरोजच्या मारफत माझा सत्याचार कळेल। तू जर व्रत तोडून मला एकही चिठ्ठी पत्र तुला कधीच पत्र लिहिणार नाही। व्रत म्हणजे व्रत। बहुतेक भजनसंग्रह नें नांव मी बाबरी हेच पर्यंत केले आहे। किंवा "कृपा कोण"। अथवा

80

शिवनी जेल से इन्दु और सरोज के नाम लिखा मराठी पत्र, 15 अप्रैल, 1944

प्रेमळ किरण मला भजनावलीत अनेक ओळ मला विशेष आवडली। पांडवांचे
कौतुक वेगळे आहे। तेरे दूरका आना जीता होजीवत हे सत्यभरे हो तेरा समान
मी वेळोवेळी नियमित पत्रे लिहिली आहेत। पण तिकडील "इटके सरदार"
अनेकांतले करें। कि बाळाला अनेक दिवस झाले काही तीन पानी
पाठपोट पत्र लिहून दिले असे मला पाठविण्यास सांगितले। मला जमेल
होय पाठविते। पण मला जमत नाही। माझी मैत्रिण व हृदयाची मुलगी
सुनेत्रा फुलकर गेली। ईश्वर आत्म्यास शांती करो। शेष बहिणी
माझा सप्रेम सलाम व आशीर्वाद। कैलासवासी आत्म्यांचे कारण अनेकांचे
होते। "One World" हे पुस्तक वाचून संपविले। आता पुस्तकांवर
लिहायला सुरुवात करीत आहे। तसेच modern heartless man
of principle आहे। असे कि केवळ शुद्ध स्वार्थ साधण्याची मुलगी
मात्र सुटलेली नाही। थोर पुरुष आहे यांत शंका नाही। आता भागवत
अनेकदा स्कंधांतील श्रीकृष्णाची मुलाखत वाचत आहे। त्यामध्ये
पातंजल योगदर्शन ही वाचत आहे। वेळोवेळी मुलांची पत्रे सरकारी
तपासणीत जात असतात। ते ते स्वतःच्या तपासणीत पाठवावीलागतात। अनेक
आठवणींत व पाठवावयाच्या पत्रे वाहेरून येणारी या अशीरचूट
आहे। कानिलालाहि ही की आता वाटेल तितकी पत्रे मलाहि मात्र
तीहि दोन असावीत। गुजराती वाचनें लिहिली तर मातृभाषेत
लिहीणार असावीत। मी आता फार थोडी पत्रे लिहिणार आहे।
अगदीच जरूरी असतील तेवढी लिहीत। किंवा कोणी हे असतेंगर
लिहीत। सप्टेंबरनें लिहीलेला मेजील तितकी पत्रे लिहावी। माझी

8।

पत्र में शिवनी जेल की संकुचित जगह और अपने पढ़ने-लिखने का वर्णन है।

XII—153 & 159 Jail

PRISONER'S LETTER

कैदी की चिट्ठी. Seoni JAIL

From Prisoner No. कैदी का नंबर : Name नाम Kaka Saheb Kalelkar

Dated 15th April 44 194 तारीख Saturday. १९४

Censored. H

Sanctioned. Sanctioned. B. Phalaud Supdt. Superintendent. Distt. Jail Seoni.

2

पत्रें कमी झाली मृणून तिनें कमी केलीच पाहिजेत असें नाहीं। तिनें प्रत्येक पत्रावर स्वतःचा पूर्ण पत्ता वगैरे लिहिण्याचें कारण नाहीं। आतांकांहीं बाहेरच्या प्रवासांत बोकडें पत्रें मासे कांहीं येत नाहींत। तीच पत्रां मला लिहून लिहून तोंडपाठ व बोटपाठ झाली आहे। बोबडी [illegible] Bahan, Datta and Sarat [illegible] पत्रें असतील मृणजे तिच्यांचे पत्र मला निकालर मारायचें झालें॥ मेथें मुक्काम ती चीपवायची आहे। पण झाली काचेच्या खिडकीतून मुक्काम कोण घेणार? ही मऊ चणाजर दूर झाली (आशा नाहीं) तर तुम्हांला व असतां येतां मेरीला असतां बोलणीला॥ स्वीट, तुझी पत्रें सुंदर असतात। मला फार आवडतात। तुझ्या प्रकृतीविषयीं ही लिहीत जा। बेंक बे च्या समुद्रासंगाची तुझी आठवण मला वारंवार होते। पहिल्या मध्यें त्याचे प्रथम दर्शन झाले होतें [illegible] व पहिल्या मध्यें गाजे॥ मिंचहैदराबाद मध्यें पाण्याबरोबर च्या चर्चा आठवण। अनेक फिलम पाहिले होतें। वृत्तांत बहिणीचे वडील दिसले होते तें दृश्य मला। वाटत राहतें। तुझ्या स्मरणांत आहे का? काकाच्या तुम्हां सर्वांचा आठवणी जय श्रीकृष्ण। सप्रेम शुभाशिष 82

काकासाहब ने 'बैंक बे' के समुद्र की याद की है। सबके प्रति अपार स्नेह इस पत्र में अभिव्यक्त है। 'तुम सबको काका का जय श्रीकृष्ण। सप्रेम शुभाशिष।'

परिशिष्ट-II

काकासाहब के द्वारा प्रचलित कुछ पारिभाषिक शब्द

Agenda : कार्यावलि, कार्य-सूची, कार्यानुक्रम
Album : चित्र-मंजूषा
Appetizer : पंचामृत
Atomic Reactor : अप्सरा
Autograph : स्वाक्षरी
Buffet Dinner : स्वेच्छा भोजन
Bust : अरुणचित्र, अरुणमूर्ति
Casting Vote : तुलसी पत्र
Civil War : यादवस्थली
Conservative : गतानुगतिक, यथास्थितिकर
Copyright : ग्रंथ-स्वामित्व
Cynic : तत्तः किंवादी
Diary : वासरी, वासरिका
Epicureanism : तृप्तिवाद, रसलोलुपता
Fielder : क्षेत्रपाल
Game sanctuary : अभयारण्य
Good morning : सुप्रभातम्
Good night : सुनिशम्
Horse Power : अश्वत्थामा
Journalist : वृत्तविवेचक
Lecturer : उपाध्याय
Microphone : ध्वनि विस्तारक
Municipality : नगरपालिका, नगर व्यवस्था मंडल
Oasis : रणोद्यान
Paragraph : कंडिका
Pioneer : अगस्त्य
Reformatory : चारित्र्यालय
Scholar : विद्योपासक
Silhouette : तिमिर चित्र, कृष्णाकृति, छायाकृति
Sincerity : पारमार्थिकता
Toleration : स्याद्वादिता
Tug of War : गजग्राह

परिशिष्ट-III

काका साहब की कुछ पुस्तकें

मराठी (1907 से 1973 के बीच)

स्वामी रामतीर्थ : जीवन चरित्र
गीतेचें समाज-रचना-शास्त्र
हिंडलग्याचा प्रसाद
साहित्याचें मूलधन
वन शोभा
सप्रेम वंदेमातरम्,
साहित्याची कामगिरी
स्मरण-यात्रा
लोक जीवन
रवीन्द्र प्रतिभेचे कोंवळे किरण
पुण्यभूमि गोमंतक
रवीन्द्र मनन
रवीन्द्र वीणा
रवीन्द्र झंकार
खेळकर पानें
संत मानस तुकाराम
भारत दर्शन (भाग 1 से 7 तक)
आंतरजगांतील यात्रा

गुजराती (1920 से 1972 के बीच)

स्वदेशी धर्म
कालेलकरना लेखो, भाग-1
गामडामां जईने शुं करीशुं
हिमालयनो प्रवास
कालेलकरना लेखो, भाग-2
ओतराली दीवालो
करंडियों, बे करी
ब्रह्मदेशनो प्रवास
जीवता तहेवारो
लोकमाता
स्मरण-यात्रा
जीवननो आनंद
जीवन-विकास
जीवन-भारती
जीवन संस्कृति
सद्‌बोध शतकम्
गीतासार
श्रीनेत्रमणिभाई ने
पूर्व अफ्रीका मा
धर्मोदय
रखडवानो आनन्द
जीवन प्रदीप
अवारनवार
मधुसंचय
उगमणो देश, जापान

चिरंजीव चन्दन ने
जीवन-चिंतन
मीठाना प्रतापे
नारी गौरवनो कवि
शुद्ध जीवन दृष्टिनी भाषा-नीति
भारतीय संस्कृतिनो उद्‌गाता
साहित्यमां सार्वभौम जीवन
चिंतन अने पुरुषार्थमां समन्वय
रविच्छविनुं उपस्थान अने तर्पण
शर्करा द्वीप मोरीशियस
जीवन व्यवस्था
विद्यार्थिनीने पत्रों
स्मरण यात्रा (संक्षिप्त)
भारत दर्शन (भाग 1 से 4)
गुजरातमां गांधीयुग
प्रासंगिक प्रतिसाद
विरल सहवास
वात्सल्यमयी प्रसादी
भजनांजलि
नारी जीवन परिमल
ज्यां दरेकने पहोचवुं छे
संध्या छाया
जीवननुं काव्य
हिन्दी (1920 से 1977)
राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्शों का विकास
जिन्दा बनो
सहजीवन की समस्या
कला : एक जीवन दर्शन
हिन्दुस्तानी की नीति
हिन्दुस्तानी के प्रचारक गांधीजी
बापू की झांकियां
नागरी वर्णलिपि बोध
हिमालय निवासियों से
जीवन-साहित्य
लोकजीवन
जीवन संस्कृति की बुनियाद
नक्षत्र माला
गांधी जी की अध्यात्म-साधना
स्वराज्य-भाषा
सद्‌बोध शतकम्
कठोर कृपा
गीता-रत्न-प्रभा
आश्रम-संहिता
प्रजा का राज, प्रजा की भाषा में
उड़ते फूल
यात्रा का आनन्द
समन्वय
सत्याग्रह-विचार और युद्ध-नीति
परमसखा मृत्यु
शांतिसेना और विश्वशांति
समन्वय संस्कृति की ओर
गीता के प्रेरक तत्व
राष्ट्रभारती हिन्दी का मिशन
युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ
जीवन-योग की साधना
विनोबा और सर्वोदय क्रांति
गांधी-युग के जलते चिराग
गांधी चरित्र कीर्तन
गांधी जी का जीवन दर्शन
गांधी जी का रचनात्मक क्रांतिशास्त्र
नवभारत के चंद निर्माता
युगानुकूल हिन्दू जीवन-दृष्टि
स्वराज्य संस्कृति के संतरी
प्रकृति का संगीत
ईशावास्य उपनिषद्
उपनिषदों का बोध

आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर (जन्म 1-12-1885, निधन 21-8-1981) उर्फ काकासाहब कालेलकर का व्यक्तित्व बहुआयामी था। एक महान शिक्षा-शास्त्री, श्रेष्ठ पत्रकार, सर्जक साहित्यकार, चिंतक, साधक, गांधी विचार के भाष्यकार—जैसे कई रूपों में उन्होंने राष्ट्र की बहुमूल्य सेवा की है। उनके व्यक्तित्व के इन विविध पहलुओं की ओर देखकर उनके गुरु-बंधु आचार्य विनोबा ने कहा था कि "काकासाहब क्या है, यह बात नहीं है। क्या नहीं है, यही प्रश्न है···पर जो भी कुछ हैं उत्तम में उत्तम हैं।" विनोबा जी के इस कथन में इतना जोड़ देना आवश्यक है कि "काकासाहब जैसी विभूति गांधी-युग में ही पैदा हो सकती है जो किसी राष्ट्र के जीवन में अवसर बारबार नहीं आता, दो ढाई हजार वर्षों में एकाध बार ही आता है।"

काकासाहब की इस बहुआयामी जीवनगाथा को उनके अंतेवासी श्री रवीन्द्र केलेकर ने इस पुस्तक में संक्षेप में पर बड़े ही मार्मिक ढंग से उकेरा है। केलेकरजी गोवा के हैं, गोवा में ही रहते हैं। काकासाहब के निकट संपर्क में लगभग पैंतीस वर्ष रह चुके हैं, उनकी कई पुस्तकों का उन्होंने संपादन भी किया है। गांधी विचार के एक अच्छे कृतविद्य माने जाते हैं। मराठी, गुजराती, हिंदी, बंगाली, अंग्रेजी, पुर्तगाली आदि भाषाओं के अच्छे जानकार होते हुए भी काकासाहब की प्रेरणा से अपनी जन्मभाषा कोंकणी के विकास-कार्य में एकनिष्ठा से लगे हुए हैं।

रु० 20-25

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया